पथराये नेत्र

उपन्यासकार
सिद्ध विनायक द्विवेदी

१९५८
साहित्य प्रकाशन, दिल्ली

प्रकाशक—
साहित्य प्रकाशन
मालीवाड़ा, दिल्ली

मूल्य : तीन रुपया

मुद्रक
नूतन प्रिंटिंग प्रेस,
लश्कर, ग्वालियर

(१)

तीव्र निराशा, घोर जलन, एवं उत्कट पीड़ा राजकुमार विजयश्रवा की दृष्टि के अथ से इति तक छायी हुई थी। किसी आकुल मूर्च्छना के सञ्चार से वह काँप-सा उठता था, फिर भी गम्भीर मनोयोगपूर्वक उसकी तूलिका अपनी प्रणयिनी के सजीव चित्रण का प्रयास कर रही थी।

क्षण भर के लिये विजयश्रवा उन्मादग्रस्त हो कर, अपने अन्तरपट पर चित्रित प्रणयिनी की मोहक छबि निरख लेता था और पुनः अर्न्तदृष्टि में झूमती हुई रूप-राशि को, चिर-दर्शन की प्यासी आँखों को तुष्टि प्रदान करने के लिए, अङ्कित करने लग जाता था।

उक्त चित्र को बनाने में विजयश्रवा के पूरे तीन मास व्यतीत हो चुके थे; किन्तु फिर भी वह चित्र अन्तर की सुषमा के अनुकूल चित्रित न हो पाया था—हाँ, यह सत्य है कि विजयश्रवा ने उसे साङ्गोपाङ्ग बनाने में अथक परिश्रम एवं उत्कट लगन द्वारा जो एकाग्रता प्रदर्शित की थी, वह सराहनीय थी।

स्वयं विजयश्रवा कला के मर्म का पारखी था। वह दिनचर्या के कुछ घण्टों के अतिरिक्त, अपना संपूर्ण समय अपनी चित्रशाला में ही व्यतीत करता था। उसके समीप किसी परिचारक या सेवक को बिना पूर्व अनुमति प्राप्त किये जाने का आदेश न था। स्वयं राजकुमार अपनी एकाकी घड़ियों में

चिर-विरह को अन्तर्मिलन के रूप में परिवर्तित करके, जीवन के अमूल्य क्षण को बिताने में स्वर्गीय सुख का आभास प्राप्त करता रहता था।

आज वह उस अपूर्ण चित्र को पूरा करके ही विश्राम लेना चाहता था। वह प्रणयिनी की रूप-राशि में अपने को खोये हुए, उस अन्तिम दिन की छबि को चित्रित कर रहा था, जिस दिन सान्ध्य गगन में विषाद और विरह के काले एवं डरावने बादल छा कर उसकी प्रियतमा को अनिश्चित काल के लिए उससे विलग करने आये थे। उस दिन उस भुवन-मोहिनी नारी की दृष्टि में एक घोर निराशा छायी हुई थी। वह राजाज्ञा के कारण ही विजयश्रवा की धारा नगरी को छोड़ने के लिए विवश थी।

उस नारी ने अपने को रूपवती रमणी के रूप में पा कर जिस गर्व को वर्षों अनुभव किया था, आज उसके चूर होने की बारी थी। बात यह थी कि विजयश्रवा ने किसी विशेष समा-रोह के समय अपने ही राजप्रासाद में, भुवन-मोहिनी का नृत्य देखते हुए, आत्म-समर्पण कर दिया था। यह व्यापार इस गोपनीय ढंग से हुआ था जिसे केवल भुवन-मोहिनी की दृष्टि ही जान पायी थी।

उस समय वसन्तोत्सव मनाया जा रहा था। सम्पूर्ण धारा नगरी के सामन्त एवं श्रेष्ठीगण राजसभा में उपस्थित थे। राजकुमार विजयश्रवा के पिता महाराज द्युमत्सेन एक चक्रवर्ती सम्राट के रूप में भारत-भूमि पर शासन करते थे और वे स्वयं भारत की राजधानी धारा नगरी के राजप्रासाद में एक विशाल

राज-सिंहासन पर आसीन थे। छत्र, चामर, व्यजन आदि उस राज-सिंहासन की महत्ता को द्विगुणित कर रहे थे।

महाराज द्युमत्सेन ने भुवन-मोहिनी को राजकीय नर्तकी के सम्मान से विभूषित किया था। एक नर्तकी एवं गान्धर्वी नारी होते हुए भी भुवन-मोहिनी श्रेष्ठ कलाओं एवं विद्या में विदुषी एवं विशारदा थी। वह वसन्तोत्सव के समय झूम-झूम कर अपने कोकिल कण्ठ से मोहक स्वर-लहरी द्वारा जिस अननुभूत आकर्षण की सृष्टि कर रही थी, उसमें किसी वीणा द्वारा फूँकी हुई स्वर-लहरी के आकर्षण में राजकुमार विजय-श्रवा मृगशावक-सा जा फँसा।

अभी विजयश्रवा पच्चीस वर्ष का भी न था, फिर भी उसके अङ्ग-अङ्ग से परिपूर्ण यौवन झाँक रहा था। वास्तव में स्वयं विजयश्रवा नारी जाति के लिए विशेष आकर्षण था। देश-देश की राजबालाएँ विजयश्रवा की जीवन-सङ्गिनी बन कर भारत की साम्राज्ञी बनने का स्वप्न देख रही थीं। राजबालाओं के ढेर के ढेर चित्र विजयश्रवा के समीप भेजे जा चुके थे; किन्तु वह उस वसन्तोत्सव के दिन अपना हृदय भुवन-मोहिनी को समर्पित कर चुका था।

भुवन-मोहिनी नर्तकी के गृह में अवश्य उत्पन्न हुई थी, किंतु उसकी शिक्षा-दीक्षा उसकी माता ने स्वयं सम्पन्न कराई थी। उसकी माता अपने समय की विदुषी महिला रत्न थी। अस्तु, अपनी एकमात्र कन्या भुवन-मोहिनी को भारत के सम्राट की राजसभा का रत्न बना कर रखना ही उसकी महत्त्वाकांक्षा थी और वास्तव में उसने भुवन-मोहिनी को रूप और गुण में इतना

योग्य बनाया कि अन्य कोई नर्तकी उसकी प्रतिद्वन्द्विनी न बन सकी।

जैसे ही वह भारत सम्राट की राजसभा में राजकीय नर्तकी के पद से विभूषित की गई, उसकी माता का देहावसान हो गया और भुवन-मोहिनी अतुल रूप-राशि एवं सम्पत्ति की स्वामिनी बन कर, धारा नगरी में कला एवं सङ्गीत की त्रिवेणी बहाने लगी। गुप्त रूप से राजकुमार विजयश्रवा भुवन-मोहिनी से एकान्त मिलन की आकांक्षा रखने लगा और धीरे-धीरे उन दोनों में एक दूसरे के प्रति इतना सहज स्नेह बढ़ चला कि इसकी गुप्त सूचना महाराज द्युमत्सेन के कानों में जा पड़ी।

सम्राट द्युमत्सेन को भली-भाँति ज्ञात था कि अब तक भुवन-मोहिनी किसी भाग्यशाली पुरुष की बाहु-शृङ्खला में आबद्ध नहीं हुई है, वरन् उससे प्रीतिदान की याचना करने-वाले धारा नगरी के बड़े-बड़े सामन्त एवं श्रेष्ठीगण हैं, फिर भी भुवन-मोहिनी किसी की अङ्कशायिनी बनना स्वीकार नहीं करती। सम्राट द्युमत्सेन को पूर्ण विश्वास हो गया कि चूँकि राजकुमार विजयश्रवा को आकर्षित रखने के लिए भुवन-मोहिनी प्रयत्नशील है, इसीलिए वह किसी भी विशेष पुरुष को अपना प्रेमदान देने में असमर्थ है।

और यही कारण था कि एक दिन सम्राट द्युमत्सेन ने विशेष राजाज्ञा द्वारा भुवन-मोहनी को धारा नगरी छोड़ देने का आदेश निकाला और जब उक्त राजाज्ञा भुवन-मोहिनी को देश-निर्वासन के रूप में बतलायी गयी तब वह काँप कर अन्तिम बार प्रियतम अतिथि के दर्शन के लिए उत्सुक हो

उठी। उसके आकुल प्राण राजकुमार विजयश्रवा से अन्तिम बार मिलने के लिए छटपटाने लगे। उसने गुप्त रूप से, पुरुष का वेष धारणकर, राजकुमार विजयश्रवा के एकान्त राज-प्रासाद में प्रवेश किया।

निस्तब्ध रात्रि की नीरवता में, प्रथम बार, विजयश्रवा ने अपनी प्रणयिनी नर्तकी का स्वागत किया। वह मौक्तिक अश्रु-बिन्दु ढुलकाकर प्रियतम के चरणों में अपना प्रेमार्घ्य समर्पित कर कृतकृत्य हो बैठी।

विजयश्रवा अपनी प्रणयिनी भुवन-मोहिनी की व्यथामयी भावनाओं से अवगत होकर केवल इतना ही कह सका—"जाओ, प्रिये! आज से धारा नगरी का राजकुमार एक सन्यासी जैसा जीवन व्यतीत करेगा।"

—"नहीं, नहीं, जीवन-धन! मुझ जैसी तुच्छ नर्तकी के लिए ऐसा कठिन व्रत लेना महान भूल होगी। राजैश्वर्य से युक्त भोग-विलास ही आपके शृङ्गार है।" चिहुँक कर भुवन-मोहिनी बोली थी।

—किन्तु मुझे नहीं चाहिए राजैश्वर्य! नहीं चाहिए भोग-विलास मैं तो अपने जीवन में भुवन-मोहिनी को प्राप्त करने की मधुर आकांक्षा पाल चुका हूँ। तुम मेरे दृष्टि-पथ से दूर बसोगी और मैं भोग-विलास में डूबकर तुम्हें भूल सकूँगा? असंभव है। प्रिये! राजाज्ञा का विरोध करने की शक्ति आज मुझ में नहीं है; किन्तु मुझ में ऐसी राजाज्ञा के प्रति कोई आकर्षण भी नहीं है। समय इसका उत्तर देगा, आज मैं विवश हूँ, मौन हूँ, प्रेम-पीड़ित हूँ।

और फिर वे दोनों एक दूसरे के बाहु-पाशों में आबद्ध होकर नीरव निशीथिनी की वे मूल्यवान् घड़ियाँ परस्पर के आमोद-प्रमोद में व्यतीत करते रहे। उनके इस क्षणिक मिलन के पीछे, सुदीर्घ विरह की अनन्त डरावनी रातें भविष्य के गर्भ में छिपी हुई मौन अट्टहास कर रही थीं। कैसा था यह अनमोल मिलन, जो अनन्त वियोग का अभिशाप लेकर आया था और वे दोनों आकुल प्राण उस वियोग का अनुभव भी करते जा रहे थे।

हृदय-तल की कितनी निगूढ़ आकांक्षाएँ, उस मौन-मिलन के प्रथम अभिसार में उन दोनों ने एक-दूसरे से व्यक्त की थीं, जिन्हें वे दोनों ही समझ सके थे।

धीरे-धीरे वे मृदुल क्षण बीत गये। रात्रि का अन्तिम प्रहर आ गया। युगुल स्नेहियों के बाहु-पाश ढीले पड़ गये। अनन्त वियोग की हृदय सन्तप्त करनेवाली घड़ियाँ मानों साकार उनके सामने खड़ी हो गईं।

विजयश्रवा ने अपने सारथी को बुलाया और भुवन-मोहिनी के साथ रथ पर जाकर आरूढ़ हो गया। भुवन-मोहिनी अपनी स्थायी सम्पत्ति के अतिरिक्त अपना सम्पूर्ण ऐश्वर्य पहले ही, दास-दासियों के साथ धारा नगरी से दूर भेज चुकी थी।

अभी भी दिशाएँ जन-रव से शून्य थीं। राजकुमार विजयश्रवा अपनी प्रणयिनी भुवन-मोहिनी के सहारे रथ पर बैठा हुआ शून्य मन से उसे सुरक्षित पहुँचाने जा रहा था। प्रणयाकुल आमोद-प्रमोद तो शयन-कक्ष में ही समाप्त हो चुके थे। अब सुलग उठी थी विरह-वह्नि, जिसमें युगुल प्रेमियों की मधुर

आकांक्षाएँ भस्म होना प्रारम्भ हो चुकी थीं। वे दोनों किसी महान् पीड़ा को हृदय-तल से चिपकाये वायु की गति में बहे जा रहे थे। रह-रह कर दोनों एक-दूसरे को अतृप्त दृष्टि से देख लेते थे।

प्राची में ऊषा का अनुराग-रञ्जित सोहाग उभर उठा। राजकुमार विजयश्रवा ने सारथी को रथ खड़ा करने का मौन संकेत किया। हिनहिनाकर रथ के घोड़े चुपचाप खड़े हो गये। रथ की घराघराहट शून्य में विलीन हो गयी। विजयश्रवा अपने हाथों का सहारा देकर भुवन-मोहिनी के साथ रथ के नीचे उतरा। वे दोनों एक-दूसरे के सामने खड़े हो गये। विजयश्रवा ने नेत्रों में आँसू भरकर कहा—"जाओ, प्रियतमे! प्रतीक्षा करना! एक दिन तुम्हारा राजकुमार यही रथ लेकर तुम्हें बुलाने अवश्य आवेगा।"

वाणी मौन हो गयी—दोनों के कण्ठ भर आये—वे दोनों अवरुद्ध कण्ठ एवं सतृष्ण दृष्टि से एक-दूसरे का हृदयालिङ्गन कर विलग हुए।

विजयश्रवा पुनः अपने रथ पर जा बैठा। पलक मारते उसी स्थल पर दूसरा रथ आकर खड़ा हो गया। भुवन-मोहिनी उसपर जा बैठी—अंतिम बार वे दोनों एक दूसरे को देखकर दो विपरीत दिशाओं की ओर चल पड़े।

इसी अंतिम क्षण में हृदयालिङ्गन करते हुए, जिस भुवन-मोहिनी से राजकुमार विजयश्रवा विलग हुआ था, उसी का वह सकरुण चित्र गत तीन मास से बना रहा था।

किसी भी मूल्य पर आज ही चित्र समाप्त हो जाना चाहिए,

ऐसा सङ्कल्प लेकर विजयश्रवा हाथ में तूलिका लिए हुए, उस अंतिम मिलन की साकार करुणा को अपनी प्रणयिनी के मुख पर अङ्कित कर रहा था।

इन विगत तीन महीनों से न तो राजकुमार किसी से मिला था, न कोई बातें ही हुई थीं। वह एकान्त-सेवी बनकर अपने आप में ही खोया रहता था—समाया रहता था। उसके जीवन का सहारा बन गयी थी तूलिका। उसी में रङ्गीन द्रव भरकर, वह प्रियतमा की छबि को उतार लाने का प्रयास कर रहा था।

धीरे-धीरे संध्या हुई–चित्र भी पूरा बन गया। राजकुमार ने संतोष की दीर्घ श्वास ली। कार्य समाप्त करने की प्रसन्नता क्षण भर के लिए उसके मुख-मण्डल पर छा गयी। उसने तूलिका भूमि पर रख दी और एक बार जी भरकर भुवन-मोहिनी के उस सकरुण चित्र को देखा। उसका हृदय भर आया। नेत्रों में आँसू तैरने लगे। मुख से "प्रिये !" का उच्चारण निकला और मानों युग-युग की सञ्चित पीड़ा उसके आकुल प्राणों में भर गयी।

महीनों पश्चात् राजकुमार ने अपने प्रिय दास को पुकारा। वह स्वामी की प्रसन्नता जानकर, करबद्ध अभिवादन करता हुआ, शीघ्र ही राजकुमार के सामने जा खड़ा हुआ।

—"आ गये तुम ! अरण्यक !!" राजकुमार ने प्रश्न कर उसे देखा। उसने स्वीकृति-सूचक सिर हिलाते हुए कहा—"दास उपस्थित है, स्वामिन् ! आज्ञा हो।"

विजयश्रवा चित्र पर आवरण डालते हुए बोला—"अरण्यक ! इसे रंगशाला से ले जाकर मेरे एकान्त शयनागार में सजा दो; किन्तु ध्यान रहे कि चित्र किसी क्षण में अनावृत न रहे" ।

—'जो आज्ञा' ! कहते हुए अरण्यक ने चित्र उठाया और उसे लेकर वह शयनागार में जाकर सजाने लगा ।

अलसाया-सा राजकुमार विजयश्रवा रङ्गशाला से उठा और अन्तपुर के उद्यान में टहलने लगा। आज महीनों पश्चात् एक बार पुनः भुवन-मोहिनी की स्मृति विजयश्रवा के अन्तः-करण में विप्लव की तरङ्गें आलोड़ित करने लगीं । वह मार्ग-विहीन-सा भ्रमित मन लिये, प्रियतमा की आकुल स्मृति में अपने को खोने-सा लगा ।

अचानक राजमाता ने भी अन्तःपुर के उद्यान में प्रवेश किया और राजकुमार विजयश्रवा को चुपचाप टहलते देखकर उनका वात्सल्य-प्रेम उमड़ उठा । पग बढ़ाती हुई जैसे ही राजमाता उस स्थल पर पहुँची; विजयश्रवा ने कर-बद्ध प्रणाम करते हुए माता के युगुल-चरण स्पर्श किये ।

राजमाता अन्तःकरण से पुत्र को चिरजीवी होने का आशीर्वाद देते हुए—अचानक पल भर के लिए विजयश्रवा के मुखड़ेपर दृष्टिपात करते हुए कह उठी—"राजकुमार ! वसन्त की शुभ वेला में यह पतझड़ कैसा ?"

विजयश्रवा माता के प्रश्न से चौंका । उसने अपने म्लान मुख पर बनावटी हँसी तथा प्रसन्नता की भावनाओं को प्रकट करने की चेष्टा करते हुए कहा—"माँ । मेरी प्रसन्नता खो

चुकी है। मैं किसी अभाव में पल-पल घुल रहा हूँ, किन्तु समझ नहीं पा रहा हूँ कि वास्तव में मुझे चाहिए क्या ?"

—राजकुमार विजयश्रवा को चाहिए भुवन-मोहिनी, एक वेश्या, एक नर्तकी। क्यों ठीक है न !

राजमाता कटु-व्यङ्ग के साथ मुसकुरा पड़ी। विजयश्रवा का मुह पीला पड़ गया। नेत्र लज्जा से भूमि पर गढ़ गये। राजमाता एक बार पुनः तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से देखकर बोली—"तुम मेरे एक-मात्र लाड़ले एवं धारा नगरी के भावी शासक तथा भारत सम्राट के उत्तराधिकारी हो। छिः तुम्हारे पद की प्रतिष्ठा के लिए यह कैसी अशोभनीय स्थिति है। क्या तुमने यह नहीं जाना एक सिंहनी की कोख से जन्म लेकर–उच्छिष्टा शृगाली के प्रेम में तुम कैसे मतवाले बन रहे हो ? देश-देश की राजबालाएँ राजकुमार विजयश्रवा की राज-महिषी बनने की मधुर आकाक्षाएँ पालकर जप-तप कर रही हैं; भारत सम्राट से अपनी-अपनी राजकुमारियों के लिए, अनेक देशों के सम्राट एवं खन्ड राज्यों के नरेश, वर-याचना कर रहे हैं; किन्तु स्वयं राजकुमार मोतियों का हार ठुकराकर सीप की माला पहिनने को उत्सुक है।"

राजमाता की वात्सल्य दृष्टि क्षण भर में घृणा के रूप में बदल गयी। वह राजकुमार के सामने से आगे बढ़ गयीं। राजकुमार माता के पीछे-पीछे अपराधी-सा चलने लगा। उसे ज्ञात हुआ कि राजमाता को यह भेद पहले से ही ज्ञात है।

विजयश्रवा कहने जा रहा था कि राजमाता ने जो अनुमान लगाया है, वह वास्तव में सत्य नहीं है; किन्तु उत्तर पूरा होने

के पूर्व ही राजमाता पुनः बोल उठी—"मैं समझती थी कि राजकुमार अपनी एकान्त रङ्गशाला में बैठकर, वीणा-पाणि-सरस्वती की आराधना कर रहे होंगे; किन्तु जब मैंने भुवन-मोहिनी का चित्र देखा तो मैं आश्चर्य से अवाक् रह गयी। एक बार स्वयं सम्राट ने जब यह आदेश निकाला कि भुवन-मोहिनी को धारा नगरी से निर्वासित किया जाता है, तो मैंने कारण ज्ञात करने की प्रार्थना की। इसपर स्वयं सम्राट ने तुम्हारे आकर्षित होने की चर्चा की थी; किन्तु उस समय मैं सम्राट की बातों पर विश्वास न कर सकी। उलटे मैंने सम्राट से निवेदन किया कि अकलुष राजकुमार पर ऐसे लाञ्छन लगाना मेरे दूध और कोख का अपमान है; किन्तु इसके पश्चात् मैंने स्वयं तुम्हें एकाग्रतापूर्वक भुवन-मोहिनी का चित्र बनाते हुए देखा।"

राजमाता विजयश्रवा की ओर घूमकर पूछने लगीं—"राजकुमार ! क्या तुम कोई कारण बतला सकोगे कि विगत तीन मासों से तुम मेरे समीप क्यों नहीं आये ? क्या तुम आखेट में वन जाना भूल गये ? क्या राज-सभा में उपस्थित लोगों ने तुम्हारी अगणित बार प्रतीक्षा नहीं की ? क्या महोत्सवों के प्रति तुम्हारे हृदय का सम्पूर्ण आकर्षण खो गया ? क्या तुम्हारे असमय वैराग्य के प्रति धारा नगरी की प्रजा में हीनतम आलोचनाएँ प्रत्यालोचनाएँ नहीं हुआ करतीं ? क्या तुमने अपने मौन का कोई उपयुक्त कारण खोज निकाला है ?"

राजमाता की दृष्टि में अपने ही एकमात्र लाड़ले पुत्र के प्रति घृणा नाच रही थी। विजयश्रवा को अपराधी की भाँति मौन देखकर वह कह उठी—"मेरे दूध की लाज तुम्हारे हाथ

है ! मैं जाती हूँ, राजकुमार ! तुम्हारा अधिक समय व्यर्थ न करुँगी; किन्तु जाते-जाते तुमसे यह मांगकर जाती हूँ कि एक पतित पुत्र की माता कहलाने के दोष से मुझे मुक्त रखना ।"

राजमाता इतना कह चुकने के पश्चात् एक क्षण भी खड़ी न रह सकी । वह बिजुली की तड़प बनकर विजयश्रवा की दृष्टि से ओझल हो गयी । राजकुमार पाषाण-स्तम्भ की भाँति जहाँ का तहां खड़ा रह गया—निष्प्राण—निर्जीव की भाँति ।

धीरे-धीरे अस्ताचल-गामी भगवान भास्कर भी क्षितिज से दूर छिप गये । निशा का निविड़ अन्धकार सघन वनों एवं आम्र-वृक्षों के नीचे मानों पूञ्जीभूत होकर एकाकार हो गया । विजयश्रवा अब भी अपने स्थान से तिल भर टस-से-मस न हुआ, वरन् माता के एक-एक अक्षर का वह बारम्बार विचार करता रहा । अन्त में उसने मन ही मन कोई निर्णय कर डाला और तब वह धीरे-धीरे अपने शयन-कक्ष की ओर लौट चला ।

चूंकि विजयश्रवा अब तक लौटकर नहीं गया था, अतएव सम्पूर्ण सेवकगण उसीकी प्रतीक्षा कर रहे थे । विजयश्रवा के समीप आते ही भृत्यवर्ग ने विनम्र आभिवादन किया; किन्तु अन्य दिवसों की भाँति प्रत्याभिवादन किये बिना ही, वह शयन-कक्ष की ओर चला ।

अरण्यक शयन-कक्ष के द्वार पर राजकुमार की प्रतीक्षा में खड़ा था । उसने भी दृष्टि पड़ते ही अभिवादन किया; किन्तु विजयश्रवा पास पड़े हुए एक मंच पर दीर्घ निःश्वास

खींचते हुए बैठ गया और भरे हुए मन से बोला—"अरण्यक ! शीघ्र एक दीर्घ यात्रा का प्रबन्ध करो। ठीक अर्द्ध रात्रि के समय मैं धारा नगरी छोड़ दूंगा। इसलिए अभी जाकर रथ सजाओ और सेवकों को चलने का आदेश देकर जब यात्रा का सम्पूर्ण प्रबन्ध हो जावे, तब मुझे सूचना दो। हाँ, ध्यान रहे, यात्रा का भेद किसीको ज्ञात न हो। साथ में चलनेवाले सेवकों को भी आदेश देदो कि वे यात्रा की चर्चा किसीसे न करें—केवल समय पर सब लोग प्रबन्ध करके एकत्रित हो जावें।"

दो सेवकों को राजकुमार के आदेश की प्रतीक्षा करने की आज्ञा देकर अरण्यक राजकुमार के अस्त्र-शस्त्र, विलास एवं आमोद-प्रमोद के उपकरण, भोजन, वस्त्र, ज्ञानार्जन करनेवाले सद्ग्रन्थ, प्रचुर धन आदि आवश्यक वस्तुओं के जुटाने में लग गया। धीरे-धीरे व्यवस्था करने में सचमुच अर्द्ध रात्रि की वेला आ पहुँची। उस दिन राजकुमार ने राज-प्रासाद में रहते हुए, अन्न-जल तक ग्रहण न किया।

चलते समय अरण्यक को भुवन-मोहिनी का चित्र लाने का आदेश देकर, विजयश्रवा राजा-प्रासाद के गुप्त द्वार की ओर चला, जहाँ रथ के साथ सेवकगण प्रतीक्षा कर रहे थे। राजकुमार विजयश्रवा भरे हुए मन से चुपचाप आकर रथ पर बैठ गया और अरण्यक के जाने के पश्चात् वह राज-प्रासाद और राजोद्यान को मन ही मन प्रणाम करता हुआ इस प्रकार चल पड़ा जैसे वह फिर कभी धारा नगरी के राज-प्रासाद की ओर न लौटेगा।

भारत के भावी सम्राट की भीष्म-प्रतिज्ञा बिजली की तरह उसके अन्तःकरण में कौंध उठी; किन्तु वह अडिग भाव से रथ को वन प्रदेश की ओर ले चलने की आज्ञा देकर, भविष्य की चिन्ता में मग्न होकर, रथ में ही शयन करने लगा।

सारथी ने वागडोर संभाली और राजापथ पर बड़ी धीमी गति से रथ चलने लगा। सारथी रथ के घोड़ों को इस प्रकार चला रहा था की उनके टापों की ध्वनि अधिक दूर तक न सुनायी पड़े और न रथ के पहियों की घरघराहट ही नगर की शान्ति को भङ्ग कर सके।

घड़ी दो घड़ी में रथ राज-पथ से दूर सुनसान वस्ती में चलने लगा। सारथी ने प्रश्न किया—"दयासिन्धु! यात्रा का निश्चित मार्ग-निर्देश कीजिए।"

—कोई निश्चित मार्ग नहीं—कोई निश्चित स्थान नहीं, जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, ले चलो या जिधर घोड़े जायें, जाने दो।

सारथी समझ गया कि सम्पूर्ण यात्रा अनिश्चित है। जहाँ नियति का क्रूर विधान ले चले, वहीं चलना है। फिर भी वह राज-परिवार का अति पुराना सारथी था। अस्तु, भारत के प्रमुख नगर एवं तीर्थ-स्थलों में वह कई बार राज-परिवार को साथ लेकर घुमा चुका था। उसने घोड़ों की बागड़ोर इन्द्रप्रस्थ की ओर मोड़ दी और विजयश्रवा चुपचाप रथ पर विश्राम एवं शयन करने लगा।

अरण्यक राजकुमार के चरण चाप रहा था। रह-रहकर अरण्यक प्रश्न करने की बात सोच रहा था; किन्तु उसमें इतना

साहस न था कि वह राजकुमार से उक्त यात्रा के निश्चय का भेद पूछे। अन्त में राजकुमार से ही चुप न रहा गया और उसने राजमाता के साथ हुए सम्भाषण की चर्चा अरण्यक से कर ही डाली। वास्तव में अरण्यक विजयश्रवा के सेवक से अधिक उसका सच्चा हितू एवं परामर्शदाता भी था। अरण्यक को विजयश्रवा ने अपना निश्चय भी प्रकट कर दिया और वह यह कि वह आजीवन अविवाहित रहकर एक निर्वासित की भाँति वनवासी जीवन व्यतीत करेगा।

अरण्यक ने विजयश्रवा के आन्तरिक भावों को स्पर्श करने की कामना से, भुवन-मोहिनी की चर्चा छेड़ दी। वह बोला—"स्वामिन्! निर्वासित किये जाने का आदेश प्राप्त करते ही भुवन-मोहिनी ने अपने वैयक्तिक सलाहकार से भविष्यवाणी कर-दी थी कि एक दिन ऐसा आयेगा जब मेरा प्रश्न लेकर ही राजकुमार को भी निर्वासित होना पड़ेगा!"

—क्या कहा?—कुछ आश्चर्य मिश्रित कुतुहल से विजयश्रवा प्रश्न कर उठा।

—क्या भुवन-मोहिनी ने मेरे अन्तकरण: की वास्तविक आसक्ति भाँप ली थी? कैसे वह विश्वासपूर्वक कह सकी कि मुझे भी एक दिन निर्वासित होना पड़ेगा?

—यह तो मैं बता नहीं सकता कि उसने किन विचारों के आधार पर यह परिणाम निकाला था; किन्तु इतना अवश्य है कि एक तुच्छ नर्तकी के घर जन्म लेकर भी वह कुछ विशेष मानवीय गुणों से युक्त थी। उसने न केवल संगीत एवं नृत्य की विशेष योग्यता प्राप्त की थी, वरन् वह वेदान्त, दर्शन,

न्याय, मिमान्सा एवं राजनीति जैसे शुष्क एवं गहन विषयों की पारंगत थी। यह तो सत्य ही है कि उसकी माता उसे शिक्षिता बनाने के लिए विद्वानों को विशेष आदर प्रदान करती थी और प्रायः उन्हें आर्थिक सहायता भी बहुत अधिक देती थी।

विजयश्रवा के विचारों में प्रति क्षण मन्थन करनेवाली भुवन-मोहिनी की स्मृति विशेष रूप से अन्तःकरण में सजग हो उठी। विजयश्रवा ने अरण्यक से पूछा कि क्या उसे भुवन-मोहिनी की कोई सूचना ज्ञात हुई है।

—अवश्य, स्वामी !

—वह कहाँ है ?

—इन दिनों वह राजस्थान में भ्रमण कर रही है। एक विशेष बात जो उसके सम्बन्ध में सुनने में आयी थी वह यह कि धारा नगरी से निर्वासित किये जाने के पश्चात् वह इन्द्र-प्रस्थ की ओर बढ़ चली थी। उसे जैन आचार्यों ने इन्द्रिय-निग्रह एवं त्याग की शिक्षा देकर नर्तकी जैसे घृणित जीवन के परित्याग की सलाह दी थी; किन्तु यह भी सुनने में आया था कि व्रत, उपवास, शमन-दमन आदि इन्द्रिय-निग्रह करनेवाले जैन आचार्य स्वयं उसकी रूप-शिखा पर पतङ्ग की भाँति भस्म हो गये थे। तब से उसे ज्ञानोपदेश करनेवाले साधुओं के प्रति विशेष घृणा हो गयी थी। वह चाहती अवश्य थी कि उसे कोई नर्तकी न समझे। वह एक सम्मानित गृहस्थ नारी की भाँति जीवन व्यतीत करने की आकांक्षा पाल चुकी थी।

विषयों के प्रति उसे कोई आकर्षण न था। क्योंकि समस्त

भोग्य वस्तुएँ उसके चरणों में लोट रही थीं; किन्तु उसने जीवन को सुख-शान्तिमय व्यतीत करने के लिए एक आश्रम की व्यवस्था करली है, जहाँ वह राग-रागिनियों की वास्तविक सिद्धि में तल्लीन है।

कुछ सोचकर विजयश्रवा कह उठा—"क्यों न हम उसी की खोज में इन्द्रप्रस्थ की ओर ही प्रस्थान करें? किन्तु, ध्यान रहे कि मुझे कोई भी धारा नगरी का राजकुमार न समझे"!

—यह कैसे संभव है? स्वामी!

—मैं छद्मवेश धारण कर अपना नाम परिवर्तन कर दूंगा। ध्यान रहे, भविष्य में मुझे श्रेष्ठी (सेठ) के रूप में सम्बोधित किया जाय और राज-पद की महत्ता का स्मरण दिलानेवाले सारे सम्बोधन भुला दिये जायं। सेवकों को विशेष रूपसे यह बात समझा दी जावे।

'जो आज्ञा'—कह कर अरण्यक राजकुमार का पाँव पलोटता रहा।

धीरे-धीरे विजयश्रवा प्रगाढ़ निद्रा के आलिङ्गन में आत्म-विस्मृत होकर विश्राम करने लगा और अरण्यक अन्य सेवकों को राजकुमार के छद्मवेशी नाम एवं पद की बात बताने लगा। साथ ही उसने सारथी को इन्द्रप्रस्थ की ओर रथ हाँकने का आदेश भी दे दिया।

ऊषा काल की मनोहर वेला का प्रारम्भ हो चला था। चारों ओर खुले मैदानों से त्रिविध बयार बह कर, उनींदे नेत्रों में निद्रा भर रही थी। सारथी भी थक गया था और रथ के घोड़े भी अपनी गति धीमी करके, मानों आगे बढ़ने की आशा

पर तुषारापात कर रहे थे ।

अन्त में यही निश्चय किया गया कि सभी लोग विश्राम करें । अस्तु, आम्र-कुञ्ज के सघन वन में विश्राम करने के लिए रथ रोक दिया गया और घोड़े भी जोत से बाहर निकाल दिये गये । पड़ाव डाल दिये गये और एक-दो प्रहरी के अतिरिक्त सभी लोग गम्भीर निद्रा की गोद में सो गये ।

विजयाश्रवा अपनी प्रेयसी की स्मृति में, उसीका चिंतन करते हुए जैसे ही सोया वैसे ही वह स्वप्न-लोक में विचरण करने लगा । उसने देखा—जैसे वहाँ प्रातःकालीन सन्ध्या-वन्दन में निमग्न होकर, किसी सरिता की गोद में आकण्ठ खड़ा हुआ सूर्यार्घ्य प्रदान कर रहा है । उसी समय वायु-मण्डल में उड़ते हुए आकाशगामी वायुयान पर, उसकी प्रेयसी भुवन-मोहिनी दिखलाई पड़ी । उसका सौन्दर्य देवलोक की अप्सराओं जैसा महान् आकर्षणयुक्त था । वह मानों विजय-श्रवा को पहचान कर मुसकुरा उठी । विजयश्रवा उसे अपने समीप से दूर जाते देखकर व्यग्र हो उठा । उसकी अर्घ्य प्रदान करनेवाली जलांजुलि मानों खुल गयी और वह संध्या-वन्दन भूलकर सहसा भुवन-मोहिनी से प्रश्न कर उठा—"देवि ! तुम मुझे परित्याग कर वायुलोक में विचरण करती हुई कहाँ जा रही हो ?"

मानों उक्त प्रश्न को भुवन-मोहिनी ने सुन लिया और वायुयान पर से ही बोली—"राजकुमार ! मेरा चिन्तन करना भूल जाओ । मैं स्वप्न-लोक की छाया हूँ और तुम्हारे जीवन में छलना बनकर समायी हुई हूँ । देखो ! तुम्हारा जप-तप

एवं जीवन के सारे शुभ कार्य व्यर्थ हो जायेंगे। तुम मुझे प्राप्त न कर सकोगे। मैं वायु-तरङ्गिनी बनकर अन्तरिक्ष में अशान्त होकर उड़ती फिरती हूँ। किसी श्रापवशात् मैं अप्सरा का जीवन पाकर भूलोक में अवतरित हुई हूं; किन्तु मुझे अपने पूर्व जीवन का पूर्ण स्मरण है। मैं तुम्हारे पूर्व जीवन से भी परिचित हूं। तुम देवलोक से भ्रष्ट होकर भूलोक में आये हो। वहाँ भी तुमने मुझे प्राप्त करने का प्रयास प्रारम्भ किया था। देवगण तुमसे असन्तुष्ट हो गये। मैं भी तुम्हारी ओर आकर्षित होती जा रही थी। एक दिन तुम्हारा चिन्तन करते हुए मैंने देवताओं की अवहेलना करदी। इसलिए वे हम दोनों से रुष्ट हो गये। उन्होंने हम दोनों को देवलोक से च्युत कर दिया। तुमने राजराजेश्वर के गृह में जन्म लिया है और मैंने अपने पूर्व जीवन के अनुकूल एक अप्सरा के गृह में। इसलिए अपने पूर्व जीवन में लौट चलने के लिए आवश्यक है कि मेरे रूप की ज्वाला में विदग्ध न बनो। जाओ, मुझे सर्वदा के लिए भूल जाओ।"

स्वप्नावस्था में ही राजकुमार भुवन-मोहिनी की निष्ठुरता के संबन्ध में कुछ कहने जा रहा था, इसलिए वह अवरुद्ध कण्ठ से बोलने की चेष्टा करते हुए गिगिया उठा। भुवन-मोहिनी वायुयान द्वारा ही वायु-मण्डल में विचरण करती हुई उसकी दृष्टि से ओझल हो गयी। वह कोई शिकवा-शिकायत न कर सका। उसकी निद्रा भंग हो गयी। मधुर स्वप्न जागृत वियोग में बदल गया।

स्वप्नावस्था से चैतन्यावस्था में आते ही कई प्रकार के

भ्रमित विचार विजयश्रवा के मस्तिष्क में चक्कर काटने लगे। वह स्वगत कह उठा—"कैसा था यह स्वप्न, एक मृग-मरीचिका के सदृश ? क्या वास्तव में भुवन-मोहिनी मेरे जीवन में छलना ही सिद्ध होगी ? यह कौन था जो स्वप्न के बहाने पूर्व जन्म की कथा का स्मरण दिलाकर शून्य में विलीन हो गया? क्या वास्तव में स्वप्न की बातें सच हैं ? क्या यह सच है कि भुवन-मोहिनी पूर्व जन्म में एक अप्सरा और मैं देवलोकवासी था ? क्या नारी का आकर्षण देवत्व के पद से भ्रष्ट करके भूलोक का जीवधारी बनाता है ? क्या भूलोक में नारी का आकर्षण भ्रष्ट नहीं करता ? यदि करता है, तो फिर इस जन्म के पश्चात् मुझे और क्या बनना पड़ेगा ? देवत्व से पतित होने पर मनुष्यत्व का पद मिला है, किन्तु यदि पुनः मनुष्यत्व से भी पतित हुआ तब किस योनि में जाना होगा ?"

विजयश्रवा अपने ही विचारों के मन्थन द्वारा अशान्त हो उठा, पर वह करे क्या ? कौन उसके सन्देहों का निराकरण करे ?

विजयश्रवा ने अरण्यक को बुलाया और आज्ञा दी कि उसकी निरन्तर यात्रा तब तक जारी रहेगी जबतक वह इंद्रप्रस्थ नहीं पहुँच जाता।

अरण्यक यह कहने जा रहा था कि अभी-अभी कुछ समय पूर्व दासगण विश्राम करने गये हैं; किंतु बीच ही में बात काटकर राजकुमार कह उठा—"विश्राम के उपरांत यात्रा जारी होगी"।

अरण्यक चुप हो गया। विजयश्रवा रथ पर ही विश्राम

करने लगा। विपत्ति में पड़े हुए स्वामी की भ्रमित मन:स्थिति देखकर अरण्यक को तीव्र अशांति ने जा घेरा। वह स्वयं सो न सका; अस्तु, उसने ऊँघते हुए सारथी के पास जाकर कुछ बात करना चाहा।

सारथी अरण्यक की भावना समझकर दबे पाँव अरण्यक के पीछे चला। वे दोनों समीपस्थ सरिता के तट पर जाकर बैठ गये।

सारथी प्रश्न कर बैठा—"क्या कहने जा रहे थे, अरण्यक ?"

सारथी के प्रश्न ने अरण्यक के मन का बोझ बाँट लिया। वह बोला—"सारथी ! तुम्हें ज्ञात है कि हमारे स्वामी ने क्यों निर्वासित जीवन व्यतीत करना निश्चित किया है ?"

—हाँ अरण्यक ! जहाँ तक मैं जान पाया हूँ, संभवत: भुवन-मोहिनी के निर्वासन का कारण ही राजकुमार विजय-श्रवा के निर्वासित जीवन व्यतीत करने का कारण बना है।

—किन्तु यह तो निश्चय ही महान् नैतिक अध:पतन है। एक क्षुद्र नर्तकी के लिए भारत सम्राट का सिंहासन परित्याग करना कदापि श्रेयस्कर नहीं।

—बात तो ठीक ही है, किंतु सम्भवत: विजयश्रवा की दृष्टि में भुवन-मोहिनी का मूल्य भारत सम्राट के राजसिंहासन से भी अधिक गरिमामय है।

—छि: यह तो घोर सर्वनाश है ! राजराजेश्वर का भौतिक सुख परित्याग कर, रूप की वासना में जीवन के सुख-मय क्षणों का सर्वदा के लिए होम कर देना निरा मोह नहीं

तो और क्या है ? सारथी ! किसी प्रकार विजयश्रवा को पतन-गर्त में गिरने से बचाओ। सम्राट द्युमत्सेन के पश्चात् राजसिंहासन के प्रति कौन उत्तरदायी होगा ?

अरण्यक क्षण भर तक सारथी का मुख देखता रहा और सारथी भी धीरे-धीरे उन गम्भीर दुष्परिणामों का अनुमान लगाता जा रहा था, जो सम्राट द्युमत्सेन के पश्चात् भारत की प्रजा को अनिवार्य रूप से भोगना पड़ेंगे।

प्रकट भाव से सारथी बोला—"यदि सम्राट के पश्चात् एक योग्य उत्तराधिकारी के रूप में राजकुमार विजयश्रवा ने राजसिंहासन स्वीकार न किया तो एक तुच्छ नर्तकी के रूप का मोहमय दुष्परिणाम राष्ट्र के लिए घातक सिद्ध होगा। ऐसी स्थिति में भारतीय सम्राट की शासन-शृङ्खला छिन्न-भिन्न हो जायगी तथा राष्ट्र की पश्चिमोत्तर एवं उत्तर की सीमा को लांघकर शक एवं हूण जातियाँ प्रवेश करेंगी। निश्चय है कि सम्राट की शक्ति के छिन्न-भिन्न होते ही खण्ड राज्यों के शासकवर्ग प्रबल शक एवं हूण जातियों का सामना न कर सकेंगे। परिणाम होगा परतंत्रता। राष्ट्र की समग्र प्रजा असहाय की भाँति लूटी जायगी एवं भुवन-मोहिनी की रूप-वारुणी अगणित सती-साध्वी नारियों की समुज्ज्वल यश-गाथा को कलंकित कर देगी। युद्ध-रत सीमा प्रान्त की असहाय नारियाँ विजेताओं की विलास-साधन बनेंगी। आहा ! राष्ट्र की पतिव्रता देवियाँ कुल-कलङ्किनी कहलावेंगी और विश्व की सर्व-श्रेष्ठ नारियाँ भुवन-मोहिनी की ही भाँति तुच्छ बनकर राष्ट्र के सर्वनाश का कारण बनेंगी।

—तब क्या हो, सारथी ? यही तो मैं भी जानना चाहता हूँ।

"तो सुनो"–सारथी बोला — हमें इन्द्रप्रस्थ पहुँचकर सबसे पहले भुवन-मोहिनी की खोज करनी होगी। यदि हम इन्द्रप्रस्थ या उसके आस-पास भुवन-मोहिनी को प्राप्त कर सके, तो राजकुमार को उसके पते से अनभिज्ञ रखकर एकांत में भुवन-मोहिनी को राष्ट्र पर आनेवाली विपत्ति से अवगत कराना होगा।

—किन्तु इसका परिणाम क्या होगा ? क्या भुवन-मोहिनी विजयश्रवा को भुला सकेगी अथवा राष्ट्र के लिए आत्म-बलिदान करेगी ?

—अवश्य, उसे ऐसा करने के लिए प्रेरित करना होगा। यदि वह समष्टि के लिए व्यष्टि के सुखों का त्याग कर सकी तब तो अच्छा ही है; अन्यथा राष्ट्र पर आनेवाली विपत्ति को हटा देने के लिये आवश्यक होगा भुवन-मोहिनी का वैयक्तिक बलिदान।

—पर क्या यह अनर्थ विजयश्रवा की दृष्टि में क्षम्य होगा ?

—यह मैं नहीं जानता, अरण्यक ? किन्तु इतना तो बल देकर कह सकता हूँ कि भुवन-मोहिनी स्वयं राष्ट्रहित को प्रधानता देगी। यदि वह किसी प्रकार आत्म-बलिदान करने से वञ्चित रही तब तो निश्चय ही हम लोगों को अपने भौतिक जीवन से हाथ धोना पड़ेगा। राष्ट्र का हित तो सर्वोपरि है ही।

विजयश्रवा उस समय गम्भीर निद्रा में मग्न हो चुका था, और भविष्य की चिन्ता उसके सारथी और सेवक को सता रही थी। सारथी और अरण्यक घन्टों राष्ट्र-हित का दृष्टिकोण सामने रखकर, विजयश्रवा के दायित्व का विचार करते रहे। अन्त में यही निश्चय हुआ कि जैसे भी संभव हो, भुवन-मोहिनी से विजयश्रवा को अलग रखने का प्रयास किया जाय।

अरण्यक और सारथी पर्याप्त समय बिताकर अन्त में पुन: विश्राम करने के स्थान पर लौट आये। यद्यपि वे दोनों भी रात में जगे हुए थे, किन्तु उनका मन पहले से अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ्य एवं प्रसन्न था।

सन्ध्या होते-होते विजयश्रवा भी जग उठा और वह शीघ्र ही शौच एवं सायं संध्या-वन्दन करने समीपवर्ती तटिनी के किनारे जा पहुँचा; किंतु जाने से पूर्व वह आदेश भी देता गया था कि पुन: रात्रि के समय यात्रा प्रारम्भ होगी। सब लोग अपनी दिनचर्या से निवृत्त होकर मेरी प्रतीक्षा करें। अस्तु—

ज्योंही विजयश्रवा लौटकर आया, सारथी रथ में घोड़े जोत चुका था। भृत्य वर्ग भी अपना-अपना सामान बांधकर विजयश्रवा को अभिवादन करने की प्रतीक्षा में खड़ा था। विजयश्रवा ने यात्रा की पूर्ण तत्परता देखी। वह मुसकुरा उठा। उसे देखकर रथ के घोड़े भी हिनहिना उठे।

वह रथारुढ़ होकर सारथी से बोला—"अभी इन्द्रप्रस्थ पहुँचने में कितना समय लगेगा ?"

"केवल तीन दिन—तीन रात। हाँ, यात्रा अवश्य भंग न हो ! स्वामी !"

"ठीक है—रथ चलाओ, सारथी !"

"जो आज्ञा !"

सारथी ने रास सम्हाली और रास के सहारे ही उसने घोड़ों से बढ़ने का सङ्केत किया। वे वायु-गति से बढ़ चले।

बैठे हुए अन्य भृत्यवर्ग अपने-अपने नियत स्थान पर बैठ गये। मार्ग में रथ के पहियों की घरघराहट तथा घोड़ों की टाप के अतिरिक्त कुछ सुनायी न पड़ता था। रथ के तेजस्वी दीप-स्तम्भ घोड़ों को मार्ग का स्वरूप दिखलाते जा रहे थे और वे वायु में उड़ते हुए-से चल रहे थे। एक प्रकार से रथ में पूर्ण शान्ति विराज रही थी; कभी-कभी दृश्य विशेष को देखकर, भृत्यवर्ग आपस में अपनी बातें धीरे-धीरे शब्दों या इंगितों के रूप में प्रकट करते थे। स्वयं विजयश्रवा प्रकट रूप से शान्त और मौन बैठा था, किन्तु उसके अन्तःकरण में एक हलचल उत्पन्न हो चुकी थी। वह अपने ही विचारों के ताने-बाने में सङ्कल्प-विकल्पों के झीने पट बुन रहा था।

जिस चिन्ता के वशीभूत होकर अरण्यक एवं सारथी ने सारा दिन नदी के तट पर बिताया था, मानो उसी की प्रति-छाया राजकुमार विजयश्रवा के अन्तःकरण में अङ्कित हो उठी।

"मैं कहाँ जा रहा हूँ ? किस उद्देश्य से ?? क्या होगा परिणाम ???" वह अपने आप से ही पूछ बैठा।

और जैसे उसकी अन्तरात्मा ने दुहराया—"क्या होगा परिणाम—केवल सर्वनाश—अधिक कुछ नहीं।"

विजयश्रवा नभ-पथ पर उदित होनेवाले विभावरी के

तारक-पुष्पों को गिनने लगा।

पुन: अन्तर से प्रश्न उठा—"क्या तुम सचमुच उस प्रणयिनी को प्यार करते हो जो तुम्हारी दृष्टि से निर्वासित है? क्या तुम्हें भुवन-मोहिनी के अक्षय-यौवना होने पर विश्वास है? क्या आज जैसी रूप की झाँकी कल भी रहेगी? क्या तुम्हारा आजवाला अनुराग-रञ्जित हृदय अपरिवर्तनशील है? क्या दो दिन में फूल की तरह मुरझा जानेवाला सौन्दर्य, अपनी सहस्र किरण-कान्ति से तुम्हारी रंगीली वासनाओं को चमकाता रहेगा? क्या रुग्णावस्था झुलस कर इस सौन्दर्य को कुरूप न बना देगी? क्या बुढ़ापे में आज का स्निग्ध मनोरम एवं आकर्षक शरीर झुरियों की लटकन से घृणित वृत्तियों को न उकसायेगा? क्या तुम स्वयं आज की ही भाँति तरुण स्वस्थ्य एवं बलिष्ठ रहोगे?"

विजयश्रवा के अन्त:करण में प्रश्नों की झड़ी-सी लग गयी; उसकी भोगमयी वासनाएँ भड़क उठीं—मानो इन प्रश्नों ने आघात पहुँचाया हो!

—"मेरी साधारण तुष्टि के लिए अनन्त प्रश्नों के रूप में ये बाधाएँ कैसी? अरे, स्वयं यह जीवन ही तो अनित्य है? फिर भुवन-मोहिनी का सौन्दर्य ही नित्य कैसे?" उसकी वासनाएँ विकृत अट्टहास कर उठीं!

—"सब कुछ नश्वर—सब कुछ अनित्य! यह जीवन अनित्य। यह शरीर अनित्य! यह सृष्टि अनित्य और इस सृष्टि के सारे व्यापार अनित्य!!!"

—"किन्तु इस अनित्यता ही में तो जीवन का शाश्वत

सत्य खोजना है ? अनित्यता का भय ही तो सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की खोज में जीव को अग्रसर करता है; किन्तु इस अनित्य ही में तो मन, इन्द्रिय एवं बुद्धि रमी है। वह खोजना भी चाहें तो ये मन, इन्द्रिय एवं बुद्धि उस शाश्वत सत्य को नहीं खोज सकते। तब इस अनित्य में जो क्षणिक सुख है, जो भुलावा है, आत्म-विस्मृति का जो सहज आकर्षण है, उसी से इस अनित्य शरीर को क्यों वंचित रखा जाय ! इस लघु जीवन में—पानी के बुद-बुद की भाँति जहाँ सारे व्यापार स्वयं प्रेरित होकर चल रहे हैं—मैं बाधा क्यों दूँ ? जब परिवर्तन ही सृष्टि का अटल नियम है, तब भुवन-मोहिनी का मधुमय यौवन कैसे स्थायी रहेगा ? इसीलिए तो जल्दी है कि इस अनित्य यौवन को, स्वप्न की भाँति विलिन होने के पूर्व—स्वप्निल भावनाओं की स्थिति में—क्यों न भोग लूँ ? फिर तो केवल पश्चात्ताप की घड़ियाँ अवशेष रह जायेंगी—यौवन को ही यौवन के रस की प्यास है—यौवन को यौवन के जल से ही तृप्त करना होगा ?

नियति के अदृश्य हाथों द्वारा राजकुमार विजयश्रवा से जो खेल खिलाया जा रहा था, उससे बचने का उस बेचारे के पास कोई साधन न था। वह बलिदान के बकरे-सा स्वयं उसी ओर बढ़ा जा रहा था, जहाँ विधि-विधान कसाई बनकर उसकी गर्दन पर छुरी फेरनेवाला था। विजयश्रवा ना कैसे करे ?

वह अपने आप में खोया-सा, निरन्तर सप्ताह भर, इन्द्रप्रस्थ को जानेवाले मार्ग पर रथारूढ़ होकर बैठा था।

भवितव्यता अपने निर्दय-पाश में जकड़े हुए उसे वहाँ ले जा रही थी, जहाँ विजयश्रवा के जीवन-लीला की क्रीड़ा-भूमि थी। वह इस व्यापार से अलग होना भी चाहता तो भी विवश था।

उसका रथ इन्द्रप्रस्थ की सीमा पर आ चुका था। उसने एक ही सांस में सारथी तथा अरण्यक को पुकार कर प्रश्न किया—"तुम लोग मुझे क्या कहकर सम्बोधित करोगे ? याद है, न !"

—हाँ, स्वामिन् ! हम लोग श्रेष्ठीवर कहकर पुकारेंगे ?

विजयश्रवा ठहाका मारकर हंस पड़ा। सचमुच, आज उसे इन्द्रप्रस्थ की सीमा पर पहुँचते हुए जो सुख-शांति मिल रही थी, वह केवल उसी की भावनाओं के लिए प्राप्त हुई थी। आज वह कितने दिवसों पश्चात् मुक्त रूप से हँसा था ! अरण्यक एवं सारथी दोनों ही राजकुमार की अन्यमनस्कता के खो जाने पर प्रसन्न थे।

विजयश्रवा ने सारथी को सम्बोधित करते हुए आदेश दिया कि यमुना के तटवर्ती किसी सुरम्य उपवन को देखकर रथ खड़ा कर देना। एकान्त निवास बड़ा ही उपयुक्त एवं निष्कन्टक रहेगा और प्रत्येक क्षण पहचाने जाने का भी भय न रहेगा !

सारथी ने स्वामी की आज्ञा का पालन किया। वह एक सुरम्य उपवन के भीतर रथ के साथ प्रवेश कर गया। उपवन की रखवाली करनेवाला माली विजयश्रवा के मनोमोहक तेजस्वी एवं ऐश्वर्य सम्पन्न मुखड़े को देखकर इतना तो भाँप

हो गया कि उस पुष्पोद्यान के भीतर कोई पुरुष विशेष ही विश्राम करने जा पहुँचा है ।

माली को ऐसे संपन्न पुरुषों के ठहरने पर सर्वदा कुछ न कुछ आर्थिक लाभ तो होता ही रहता था । अस्तु, उसने बड़ी विनम्रता के साथ रथारूढ़ विजयश्रवा को अभिवादन किया ।

अरण्यक ने माली से पूछा—"यह सुन्दर विशाल उपवन किस भाग्यशाली का है ? क्या मैं जान सकता हूँ ?"

—"हाँ-हाँ, यह उपवन वास्तव में है तो चद्रवंशी महाराज आदित्यसेन का, जो इन्द्रप्रस्थ से मिलेजुले एक बड़े भू-भाग के भूपाल हैं; किंतु आजकल इस उपवन का उपयोग उन्ही महाराज की एकमात्र राजबाला चंद्रहासिनी के मनोविनोद के लिए किया जाता है"।

—तो क्या अपरिचितों का निवास-निषेध है ?

—नहीं, ऐसी बात तो नहीं है; किंतु यह अवश्य जाँच करली जाती है कि उपवन में निवास करनेवाला इन्द्रप्रस्थ से दूर का निवासी हो । या तो वह राजवंश का हो अथवा लक्ष्मीपुत्र किसी श्रेष्ठी के वंश का । साधारण लोगों का निवास अवश्य निषेध-पूर्ण है ।

—ऐसा क्यों ?

—इसलिए कि यदि उपवन में कोई राजवंशी या श्रेष्ठी निवास करता हुआ उपवन के सौंदर्य या वृक्षादिकों को नष्ट करने का प्रयास करेगा तो उसे दण्डस्वरूप सहस्र मुद्राएँ प्रदान करना होंगी । साधारण निवासी उक्त दंडस्वरूप धन देने में असमर्थ रहेंगे; इसीलिए ऐसे लोगों का निवास-निषेध है ।

मुसकुरा कर अरण्यक बोला—"हम लोग निवास करते हुए ऐसे सुन्दर उपवन की एक साधारण पत्ती का भी विनाश न करेंगे; किंतु यदि भूल से किसी प्रकार की हानि हुई तो राज-कोष में दंडस्वरूप एक सहस्र मुद्राएँ जमा करवा देंगे।"

अरण्यक ने नेत्रों के इंगित द्वारा माली को अपने पास बुलाया और पचास मुद्राएँ पुरस्कारस्वरूप देता हुआ बोला—हमारे स्वामी के निवास के लिए पर्ण-कुटियों का शीघ्र निर्माण करादो और साथ ही महाराज आदित्यसेन के अधिकारियों से स्वीकृति भी प्राप्त कर लेना।

माली ने प्रसन्नता-पूर्वक पुरस्कार ग्रहण कर लिया और बोला—अभी कुछ ही दिवसों पूर्व, निरंतर तीन मास तक निवास करने के पश्चात्—राजकुमारी चंद्रहासिनी उक्त उपवन से लौटकर राजप्रासाद पधारी हैं। उन्ही के निवास के लिए, काँस-फूस की सहायता लेकर पर्णशाला का निर्माण कराया गया था, जो आज भी राजकुमारी चंद्रहासिनी के निवास-काल की भाँति ही सजधज-पूर्ण है। कहने को तो पर्ण-कुटी है, पर वह एक छोटे-मोटे राजप्रासाद की शोभा एवं विस्तार से कम नहीं।

—तब तो धन्यवाद है, माली। मेरे स्वामी प्रायः एकांत वास पसंद करते हैं; इसलिए अच्छा ही हुआ जो बनी-बनायी पर्णशाला मिल गयी।

पुनः माली ने कुछ अस्पष्ट शब्दों एवं संकेतों द्वारा अर-ण्यक से जानना चाहा कि उसके स्वामी कहाँ रहते हैं और कौन हैं।

अरण्यक ने बतला दिया कि उसके स्वामी धारा नगरी के सर्वश्रेष्ठी के एकमात्र पुत्र हैं और वे इन्द्रप्रस्थ देखने की लालसा से यहाँ आ पहुँचे हैं। संभवतः वे माह, दो माह रहें। चिंता की कोई बात नहीं।

उपवन का माली अरण्यक को साथ लेकर एक अन्य अधिकारी के पास भी गया और वहाँ से उपवन में रहने की स्वीकृति दिला दी।

लौटकर अरण्यक आया और विजयश्रवा को एक विशाल कुटी में ठहराकर, आवश्यक वस्तुओं को रथ से ला-लाकर पर्णकुटी को सजाने एवं सम्पन्न बनाने लगा।

विजयश्रवा उक्त वास-स्थल को प्राप्त कर, मन ही मन सुख-शांति का अनुभव करने लगा और अरण्यक स्वामी को प्रसन्नावस्था में देखकर अत्यधिक प्रसन्न हुआ।

दिन पर दिन व्यतीत होने लगे। विजयश्रवा प्रायः रथारूढ़ होकर इन्द्रप्रस्थ के नगर एवं आस-पास के ग्राम समूहों की ओर घूमने निकला करता था। वह स्वयं तो अपनी वेश-भूषा द्वारा इतना साधारण रहता था कि अनुमान द्वारा कोई व्यक्ति उसे राजवंशी होने की कल्पना न कर सके; किंतु तो भी जो लोग उसके अमूल्य रथ को देखते, वे उसे पुरुष विशेष से कम न आंकते थे। बहुत छिपाने पर भी उसके तेजस्वी ललाट, विशाल नेत्र, आजानुबाहु, वृषभ कन्ध, उन्नतग्रीवा, चौड़ा वक्षःस्थल, केहरि-कटि, कदली खम्भ जैसे दृढ़ सुगोल जंघाप्रदेश, एवं सेचक कुञ्चित केश आदि उसके चक्रवर्ती एवं राज-राजेश्वर होने की सहज कल्पना को दृढ़ीभूत कर देते थे।

उसके स्वरूप का आकर्षक दर्शन इन्द्रप्रस्थ तथा आसपास की ग्रामीण जनता के चर्चा का विषय बन गया था और प्रायः बहुत कम लोग धारा नगरी के सर्वश्रेष्ठी होने की बात पर विश्वास करते थे।

स्वयं विजयश्रवा अपने को जितना ही गोपनीय बनाये रखने का प्रयास करता था, उतनी ही अधिक उसकी चर्चा जन-साधारण एवं सामंत परिवारों में होने लगी थी। इन्द्र-प्रस्थ के उच्चवंशीय सामंतवर्ग उसके सहज आकर्षक दर्शन से इतने प्रभावित होते जा रहे थे कि एक दिन विजयश्रवा महा-राज आदित्यसेन की राजसभा के चर्चा का विषय बन गया।

महाराज आदित्यसेन अपनी राजकन्या चन्द्रहासिनी के विवाह की चिंता में घुलते जा रहे थे। उसके रूप-गुण एवं विद्या-बुद्धि की समतुलना में कोई राजवंशीय राजकुमार ठीक-ठीक न उतर पाता था। अस्तु, जब विजयश्रवा की चर्चा के साथ-साथ यह अनुमान भी लगाया जाने लगा कि हो, न हो, परदेशी युवक, जो अपने को धारा नगरी के सर्वश्रेष्ठी का पुत्र बतलाया है, अवश्य ही किसी राजवंश का प्रतापी राजकुमार है। क्योंकि उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग की कमनीयता एवं चक्रवर्तियों जैसे लक्षण सिद्ध करते हैं कि वह गोपनीयता बनाये रखने के लिए ही अपने को धारा नगरी के सर्वश्रेष्ठी का पुत्र बतलाता है; अन्यथा उसके रूप, गुण, प्रभाव एवं आकर्षण की तुलना में बड़े-बड़े राजकुमार टिक नहीं सकते।

महाराज आदित्यसेन कुछ सोचते-विचारते हुए कह उठे कि यदि वह धारा नगरी के सर्वश्रेष्ठी का पुत्र भी हो, तो उसे

पहचानना कोई कठिन बात नहीं है; क्योंकि भुवन-मोहिनी स्वयं सम्राट द्युमत्सेन की राजसभा की प्रमुख गायिका थी और वह वहाँ के प्रधान सामन्तों एवं सर्वश्रेष्ठियों को अवश्य पहचानती होगी।

महाअमात्य ओङ्कारदेव बोल उठे—"अवश्य देव! आज-कल भुवन-मोहिनी तो स्वयं महाराज के राज-दरबार की आश्रिता है। वह धारा नगरी के राजवंश एवं सर्वश्रेष्ठी तथा सामन्त वर्ग से भली-भाँति परिचित होगी। यह कार्य उसी के द्वारा हो सकता है। वह पहचानकर सही बात का पता लगा सकेगी।

उसी राजसभा में भुवन-मोहिनी की प्रतीक्षा की जा रही थी। महाअमात्य का आदेश पाते ही एक भृत्य दौड़ता हुआ भुवन-मोहिनी को शीघ्र बुला लाने के लिए चल पड़ा। भुवन-मोहिनी अपने रथ पर आरूढ़ होकर राजसभा की ओर ही आ रही थी। भृत्य द्वारा बुलावा जानकर उसने सवेग रथ हाँकने की आज्ञा दी और कुछ क्षणों में भुवन-मोहिनी महाराज आदित्यसेन की राजसभा में आकर उपस्थित हुई।

भुवन-मोहिनी ने नत-मस्तक होकर महाराज आदित्यसेन को अभिवादन किया और बोली—"देव! दासी सेवा में उपस्थित है।"

महाराज ने मुस्कुराकर भुवन-मोहिनी का अभिवादन स्वीकार किया और बोले—"नर्त्तकी! राजसभा तुम्हारे बिना सूनी ज्ञात होती है। अस्तु; तुम्हें सर्वदा मेरे आने के पूर्व ही राजसभा में उपस्थित रहना चाहिए।"

—" अपराध क्षमा हो, देव ! भविष्य में ऐसी भूल न होगी। आज दासी के अस्वस्थ होने के कारण ही अनुपस्थित होने का अहराध बन पड़ा है।"

महाअमात्य ओङ्कारदेव ने भुवन-मोहिनी को अपने समीप आने का संकेत किया। वह उन्हें भी अभिवादन करती हुई उनके समीप जा खड़ी हुई। वह बोले—" भुवन-मोहिनी ! तुम्हें ज्ञात है कि यमुना के किनारे पर अवस्थित राजोद्यान में धारा नगरी का कौन व्यक्ति विश्राम कर रहा है ?"

—"दासी को ज्ञात नहीं, देव !"

—"क्या तुम राजबाला चन्द्रहासिनी के साथ उस उपवन में नहीं निवास कर रही थीं ?

—"देव ! मैं साथ में तो अवश्य थी; किन्तु राजकुमारी चन्द्रहासिनी एक पक्ष पूर्व राज-प्रासाद में लौट आयी हैं। तब से मैं अकेली राजोद्यान में नहीं गयी।

—"अच्छा, तो कल जाकर गुप्त रूप से पता लगाकर आओ कि उस राजोद्यान में ठहरनेवाला पुरुष अपने को धारा नगरी के सर्वश्रेष्ठी का पुत्र बतलाता है, क्या यह बात सही है और यदि नहीं तो इस प्रकार अपने को गोपनीय ढंग से रखनेवाला व्यक्ति कौन है ?"

—"जो आज्ञा ! कल पुनः राजकुमारी चन्द्रहासिनी भी उसी राजोद्यान में दीप-रागिनी सिद्ध करने जानेवाली हैं। मैं भी उनके साथ अवश्य ही जाऊँगी। राजकुमारी ने अपने पिछले निवास-काल में दीप-रागिनी का विशेष अभ्यास किया था। कल उसी का महोत्सव भी है।"

—"किंतु वहाँ की पर्णशाला में नवागन्तुक पुरुष अतिथि के रूप में निवास कर रहा है। क्या राजकुमारी की कार्य-सिद्धि में कोई बाधा तो न उपस्थित होगी ?"

—"नहीं देव ! अब वे पर्णशाला में न ठहरकर राजोद्यान के राज-प्रासाद में अपना कार्य करेंगी ?"

—ठीक है !

भुवन-मोहिनी ने राजसभा में अपना नृत्य प्रारम्भ किया और नृत्य के पश्चात् एक-दो गाने भी गाये। महाराज आदित्यसेन प्रसन्न मुद्रा में उठकर जाने लगे और जाते-जाते उन्होंने कहा— " भुवन-मोहिनी तुम्हारी अस्वस्थता के कारण तुम्हें आज की राजसभा से अवकाश प्रदान किया जाता है; किन्तु महाअमात्य ने जो कार्यभार तुम पर डाला है, उसकी सूचना कल ही रातोरात मुझे अवश्य मिले।

महाराज आदित्यसेन चल पड़े। पीछे-पीछे महाअमात्य एवं सामन्त वर्ग।

जन-साधारण ने उठकर महाराज को अभिवादन किया और सारी राजसभा क्षणभर में सूनी हो गई।

महाराज आदित्यसेन राजसभा से उठकर सीधे रनवास जा पहुँचे। आज उनका मुखमण्डल अन्य दिवसों की अपेक्षा अधिक प्रसन्न एवं निश्चिन्त था।

महारानी कुमुदवल्लभा ने पतिदेव का बहुत दिनों पश्चात् स्वागत किया और अन्तःप्रसन्नता एवं व्यङ्ग उपहास द्वारा कह उठीं— " आज मेरे अहोभाग्य ! चिर-प्रतीक्षा के पश्चात् देव के दर्शन तो हुए ! "

—" अवश्य प्रिये ! राजकाज से अवकाश मिलना कठिन कार्य है, किन्तु आज मैं तुम्हें एक विशेष सूचना देने आया हूँ। अभी कुछ ही दिनों पूर्व तुम्हें ज्ञात होगा कि मैंने राजकुमारी चन्द्रहासिनी के विवाह की चर्चा भारत सम्राट द्युमत्सेन से चलाई थी। सम्राट द्युमत्सेन के समीप राजकुमारी के चित्र भी प्रेषित किये गये थे और सचमुच सम्राट द्युमत्सेन ने राजकुमारी की सौन्दर्य राशि पर प्रसन्न होकर, मुझे गुप्त रूप से सूचना दी थी कि यद्यपि राजकुमार विजयश्रवा की राजलक्ष्मी बनने के लिये भारत की अनेक राजकुमारियाँ प्रयत्नशील हैं; किन्तु राजकुमारी चन्द्रहासिनी की रूप-राशि पर स्वयं सम्राट द्युमत्सेन एवं साम्राज्ञी दोनों ही प्रसन्न हैं और दोनों ने गुप्त रूप से चन्द्रहासिनी को अपनी पुत्र-वधु बना लेना स्वीकार कर लिया था। किन्तु उसके पश्चात् जो दूसरा पत्र सम्राट ने अपने विशेष दूत के द्वारा भेजा है, उसमें राजकुमार विजयश्रवा के एकाएक अज्ञात स्थान को रूठकर चले जाने की चर्चा है। इधर यमुना किनारे के राजोद्यान में सर्वश्रेष्ठी के पुत्र के रूप में महान् द्युतिवान युवक आकर निवास कर रहा है। मेरा अनुमान है कि वही राजकुमार विजयश्रवा है। इसीलिए मैंने उसे उस राजोद्यान में निवास करने का आदेश दे डाला था; अन्यथा उस राजोद्यान में किसी अपरिचित व्यक्ति को रहने की कब आज्ञा प्रदान की गई है ? मैंने स्वयं उस युवक विशेष को महायान पर घूमते हुए देखकर निश्चय कर डाला था कि रूप और लक्षण चक्रवर्ती सम्राट जैसे ज्ञात होते हैं। संभवतः वही राजकुमार विजयश्रवा हो, जो भविष्य

में भारत का सम्राट होगा। उस युवक के राजोद्यान में ठहराये जाने पर, स्वयं महाअमात्य ओङ्कारदेव ने आपत्ति प्रकट की थी; क्योंकि जब उनके पुत्र को राजोद्यान में जाने से वञ्चित कर दिया गया तब उन्होंने मन ही मन बुरा माना और दबे-छिपे शब्दों में कह भी डाला कि ऐसे राजोद्यान में किसी अपरिचित युवक को ठहराना नितान्त अनुचित है।"

महारानी कुमुदवल्लभा ने बीच में ही बात काट दी और बोली —"महाराज! ओङ्कारदेव के लक्षण अच्छे नहीं हैं। वे निरन्तर प्रयास करते आये हैं कि यदि राजकुमारी चन्द्रहासिनी के रूप-गुण के अनुकूल कोई राजकुमार न मिल सके तो उन्हें राजकुमारी को अपनी पुत्र-वधू बनाने का सौभाग्य प्राप्त हो जायगा। इसमें संदेह नहीं कि महाअमात्य का एक-मात्र पुत्र मृत्युञ्जय रूप, गुण, चरित्र एवं योग्यता में राजवंशवालों से किसी प्रकार कम नहीं। वह अवश्य ही एक उदीयमान नक्षत्र की भांति महाअमात्य के गृह में उत्पन्न हुआ है और उसके साथ अपनी कन्या का विवाह करनेवाले कई छोटे-मोटे राजवंशवाले लोग हैं। किन्तु जहां तक मेरी चन्द्रहासिनी का प्रश्न है, यदि उसे सम्राट की पुत्र-वधू बनने का सौभाग्य प्राप्त हो, तब मैं कभी अपने अमात्य के पुत्र के साथ कन्या का विवाह न करूंगी! क्या हमारी बेटी चन्द्रहासिनी किसी राजकुमारी अथवा रमणी-रत्न से रूप, गुण अथवा स्वभाव में निम्न श्रेणी की सिद्ध होगी? मैं तो समझती हूं कि खिली हुई गुलाब की पंखड़ियों के समान उसके रूप और आकर्षक सलोनेपन को देखकर ज्ञात होता है मानो स्वर्ग लोक से स्वयं चन्द्र-

किरणें उतरकर सजीव आकार धारण कर चुकी हैं !

—"यही तो बात है" महाराज आदित्यसेन अपनी महारानी कुमुदवल्लभा से कह उठे। "महाअमात्य ओङ्कारदेव के अंतर-हृदय में इस संस्कार ने घर कर लिया है कि उनके पुत्र मृत्युञ्जय सरीखे युवक राजवंशों में खोजने पर भी नहीं मिल रहे हैं, इसलिए वे इस प्रयास में तो हैं ही कि चन्द्रहासिनी उनकी पुत्र-वधू बनकर उनके पुत्र एवं परिवार को कृतार्थ करे; किन्तु मैंने पता लगाया है कि राजकुमारी किसी भी मूल्य पर अपने भृत्य के पुत्र के साथ प्रणय-सम्बन्ध स्थापित करने में असमर्थ है, भले ही उसे आजीवन क्वाँरी रहना पड़े"।

महारानी कुमुदवल्लभा ने पति से स्नेहपूर्वक बातें करते हुए कहा—"भगवान करे वह परदेशी युवक धारा नगरी के सर्वश्रेष्ठी का पुत्र न होकर, सम्राट का पुत्र सिद्ध हो। इससे अधिक श्रेष्ठ वर चन्द्रहासिनी को स्वर्ग में भी न प्राप्त होगा, जिसे सम्वरण कर वह भारत की राजराजेश्वरी बनेगी। कहाँ सम्राट का पुत्र विजयश्रवा और कहाँ महा-अमात्य का पुत्र मृत्युञ्जय ? जो कल तक राजकुमारी को देख-कर अभिवादन करने के रूप में खड़ा रहता था, वही यदि उसका पति बनेगा, तो भला चन्द्रहासिनी कैसे संतुष्ट होगी ?"

जब पति-पत्नी में इस प्रकार चर्चा चल रही थी, ठीक उसी समय पिता का आगमन जानकर राजकुमारी चन्द्र-हासिनी भी माता के महल की ओर आई; किन्तु अपने विवाह की चर्चा सुनकर ओट में खड़ी हो गई। उसे सम्राट के पुत्र की चर्चा भी सुनाई पड़ी, जो उसी की पर्णशाला में राजोद्यान

में निवास कर रहा था। मन ही मन उसे अपने ऊपर क्षोभ होने लगा कि वह राज-प्रासाद में आने के पश्चात् क्यों न पुनः राजोद्यान में गई।

जिस प्रकार चन्द्रहासिनी का चित्र सम्राट द्युमत्सेन के समीप भेजा गया था, उसी प्रकार सम्राट द्युमत्सेन ने भी अपने उत्तराधिकारी विजयश्रवा का चित्र महाराजा आदित्यसेन के पास भेजा था और आदित्यसेन ने भारत के भावी सम्राट का चित्र अपनी महारानी कुमुदवल्लभा के समीप भिजवा दिया था। वहीं माता के पास ही चन्द्रहासिनी ने विजयश्रवा का चित्र देखा था और माता के आग्रह करने पर स्वयं चन्द्रहासिनी उस चित्र को अपने पास रखने लगी थी; किंतु निर्जीव चित्र के आकर्षण ने ही उस पर वह जादू डाल दिया था कि मन ही मन वह अपने जीवन-संगी प्रियतम का चुनाव कर चुकी थी।

विजयश्रवा के चित्र के सहज आकर्षण ने चन्द्रहासिनी को उसका बना दिया था और चंद्रहासिनी उस निर्जीव चित्र की पूजा अपने आराध्य देव की भांति करने लगी थी। इसके पश्चात् जब भुवन-मोहिनी धारा नगरी से निर्वासित होने पर उसके पिता के राजसभा की प्रमुख नर्तकी बनाई गई और वह चंद्रहासिनी को संगीत एवं नृत्य की शिक्षा देने आने लगी, तब वह भुवन-मोहिनी के मुख से सैकड़ों बार कामदेव के पुत्र की भांति विजयश्रवा के स्वर्गीय सौंदर्य की चर्चा सुनने लगी थी। समय-समय पर अनेक संस्मरणों की चर्चा करके जब भुवन-मोहिनी अपने आप में खो जाती थी तब उसके दर्शन करने की एक वेदना भरी टीस चंद्रहासिनी के अंतरतम में

कसक उठती थी। भला उस भोली-भाली राजकुमारी को क्या पता था, कि उसकी सङ्गीत शिक्षिका भुवन-मोहिनी, जो वास्तव में भुवन-मोहिनी ही है, उसी रूप के देवता की उपासिका है, जिसकी पूजा चन्द्रहासिनी करने लगी थी।

कभी-कभी आपसी चर्चा में जब भुवन-मोहिनी राजकुमारी से कह बैठती कि उसकी रूप-सुधा को पीनेवाला राजकुमार विजयश्रवा ही होगा तब चन्द्रहासिनी कुछ-कुछ अनमनी होकर भुवन-मोहिनी से कह बैठती, "किस बे पीर पुरुष की तुम बातें करती हो, सखी ! भला तुम्हारा देवदुर्लभ स्वरूप जब उस पत्थर हृदय को नहीं पिघला सका है, तब मैं कैसे समझूँ कि वह मुझे अपने गले का हार बनायेगा !"

तब भुवन-मोहिनी अपने प्रेम-रहस्य को छिपाती हुई राजकुमारी से पूछ बैठती—"तो क्या मैं एक क्षुद्र नर्तकी होकर भी राजकुमारी चन्द्रहासिनी से अधिक सुन्दरी हूँ ?"

—"अवश्य ही !" राजकुमारी कहती—"विधिनाने अपने हाथों तुम्हारे अङ्ग-अङ्ग को कुशल कलाकार की भाँति गढ़-गढ़ कर बनाया है; किंतु सच कहो, सखी ! क्या वे तुम जैसी सुन्दरी को भी प्यार नहीं करते थे।"

—"धुत पगली राजकुमारी ! कहीं भारत का भावी सम्राट एक तुच्छ नर्तकी की रूप-वारुणी पर विस्मय-विमुग्ध हो सकता है ?"

—"हो सकता है, सखी ! तुम झूठ बोलती हो ! तुम्हारे अङ्ग-सौष्ठव में जो मादकता भरा आकर्षण है, उसने अवश्य ही राजकुमार विजयश्रवा को चूर-चूर कर डाला होगा !

वास्तव में तुम मुझसे अपने प्रेम-रहस्य को छिपाती हो।"

—"छिपाती नहीं, राजकुमारी! उन्हें भला राजकुमारियों की सौन्दर्य-शिखा पर अपना सर्वस्व भस्म करने के अतिरिक्त, मेरे रूप की क्या आवश्यकता रह जाती थी। छि:, मेरा अपवित्र, दूषित एवं धन की लिप्सा पर बिकनेवाला रूप भला राजराजेश्वर के बेटे को कैसे आकर्षित कर सकता था?"

राजकुमारी चन्द्रहासिनी सब कुछ मानकर भी यह स्वीकार नहीं करती थी कि यदि विजयश्रवा के नेत्रों के सामने भुवन-मोहिनी की दैदीप्यमान रूप-राशि प्रकाशित हो पाती रही होगी तो वह अवश्य, निर्धन के धन की भाँति, उस रूप की ज्योति को अपने अन्तरतम में प्रकाशित कर लेते रहे होंगे।"

वास्तव में बात ऐसी ही कुछ थी। यद्यपि चन्द्रहासिनी का निष्कलुष रूप-लावण्य पृथ्वी के सौंदर्य का गर्व-भरा स्वरूप था, तो भी भुवन-मोहिनी का सौंदर्य नेत्र पानेवालों के लिए किसी प्रकार कम आकर्षक न था। स्वयं विजयश्रवा उस सौंदर्य शिखा का भस्म होनेवाला पतिङ्गा था। यह अन्तर करना कठिन था कि उक्त दोनों सुन्दरियों में से कौन स्वर्गलोक और कौन पृथ्वी में अवतरित हुई है! अकेले भुवन-मोहिनी के सौंदर्य-राशि पर भावी भारत सम्राट का राज-सिंहासन, अपनी गौरवमय गरिमा को, समर्पित करता जा रहा था।

अस्वस्थ्य मानसिक अवस्था और भूले प्रियतम की स्मृति ने भुवन-मोहिनी की आन्तरिक वृत्तियों में ज्वालामुखी का विस्फोट उत्पन्न कर दिया। उसे कभी आशा न थी कि खण्ड-राज्य के स्वामी 'महाराज आदित्यसेन' की छोटी-सी राजकीय

सीमा के भीतर कभी भी राजकुमार विजयश्रवा अनिमंत्रित स्थिति में, स्वेच्छा से प्रवेश करेंगे। किंतु इस प्रकार चुपचाप आने का कारण क्या हो सकता है? क्या वे अपनी भावी पत्नी—राजकुमारी चन्द्रहासिनी—को लुक-छिपकर देखने आये है, अथवा भुवन-मोहिनी को ?

भुवन-मोहिनी सारी रात इसी उहापोह में अपनी शैय्या पर लेटे-लेटे करवटें बदलती रही। किसी प्रकार चिन्तित अवस्था में रात्रि व्यतीत हुई। आज उसे राजोद्यान में जाकर गुप्त रूप से पता लगाना था कि धारा नगरी के सर्वश्रेष्ठी का पुत्र ही वास्तव में वहां निवास कर रहा है, अथवा राजकुमार विजयश्रवा ? क्या वह अकेली जाये अथवा साथ में राज-कुमारी चन्द्रहासिनी को भी लेती जावे ?

अंत में उसने यही निश्चय किया कि चंद्रहासिनी के साथ जाना ही श्रेयस्कर होगा। स्वयं विजयश्रवा उसके रहने का अनुमान न कर सकेंगे। क्या उन्हें ज्ञात हो चुका है कि मैं महाराज आदित्यसेन की राजसभा की गायिका हूँ ? नहीं, उन्हें यह बात किसी प्रकार ज्ञात न होगी। संभवत: वे राजकुमारी चंद्र-हासिनी को ही देखने आये होंगे, जो भविष्य में राजकुमार की परिणीता पत्नी बनेगी।

धीरे-धीरे सन्ध्या का समय उपस्थित हुआ। राजकुमारी चंद्रहासिनी अपने साथ भुवन-मोहिनी को लेकर राजोद्यान में दीपक-रागिनी सिद्ध करने जा रही थी। वह कई दिवसों से विशेष संयमित जीवन व्यतीत कर—एक उपासिका की भाँति—माता सरस्वती से दीपक-रागिनी के सिद्ध करने का

वरदान मांग रही थी। आज उसकी सम्पूर्ण अभिलाषाओं की सिद्धिदात्री घड़ियां उपस्थित होनेवाली थीं।

राजोद्यानवाले राज-प्रासाद के गगन चुम्बी स्वर्ण-कलश के ऊपर विशाल दीपक सजाये गये थे और वैसे समस्त राज-प्रासाद में सहस्रों दीप मालिकाएँ निस्तेज रूप में चारों ओर रखवा दी गयी थीं। दास-दासी वर्ग राज-प्रासाद से दूर उद्यान के अन्य भाग में राजकुमारी की प्रतीक्षा कर रहे थे।

ज्योंही चंद्रहासिनी के रथ ने राजोद्यान में प्रवेश किया, उसकी दृष्टि राजकुमार विजयश्रवा पर जा पड़ी। उस समय विजयश्रवा लता-मण्डप के आस-पास टहलता हुआ वायु सेवन कर रहा था। सायं सन्ध्या के कारण, प्रतीची में अस्त होने-वाली अरुणिमा की क्षीण रेखाएँ, निशा की अंधकारमयी वेला में समायी जा रही थीं। चंद्रहासिनी को स्वयं विजयश्रवा का चाँद-सा मुखमण्डल अपनी ओर खींचे लिये जा रहा था।

वह निर्निमेष दृष्टि से प्रथमबार विजयश्रवा को देख रही थी। उसकी तन्मयता भुवन-मोहिनी की दृष्टि से छिपी न रह सकी। सन्ध्या की अरुणिमा लजवंती चंद्रहासिनी के मुखमंडल पर खॅचित हो गयी। हृदय धड़कने लगा। दर्शन की अधिका-धिक आकुल प्यास उमग पड़ी। वह प्रथम दृष्टि में ही विजय-श्रवा के देवदुर्लभ स्वरूप के ऊपर अपना आत्म-समर्पण करके कृतकृत्य हो गयी। आज तक वह जिसके चित्र की पूजा करते हुए न अघाती थी मानों वही जन्म-जन्मान्तर से उसकी प्रेम-पूजा को ग्रहण करनेवाला वरदायक देवता उसकी स्थूल दृष्टि के सामने खड़ा होकर पुष्प चयन कर रहा था।

ज्योंही रथ राज-प्रासाद की ओर मुड़ा, त्योंही विजयश्रवा ने भी पुष्प चयन करना बंद कर दिया और वह भी कुतूहल भरी दृष्टि गड़ाकर यह प्रयास करने लगा कि वह भी देखे कि रथ के भीतर कौन बैठा है ?

आज कई महीनें पश्चात् भुवन-मोहिनी की हृत्तन्त्री, विकल रागिनी के करुण गीत गाकर मानों जीवन के प्रति निश्चेष्ट हो जाने का प्रयास करने लगी—प्रयास तो क्या, वास्तव में वह धीरे-धीरे चेतनाशून्य होने लगी; किंतु इस व्यापार को राजकुमारी चंद्रहासिनी किञ्चित मात्र न समझ सकी, क्योंकि जैसे ही उसने चित्राङ्कित विजयश्रवा की प्रतिमा का प्रत्यक्ष स्वरूप से एकाकार किया, वैसे ही वह भी प्रियतम को चिन्तन में आत्म-विस्मृत होकर भूल गयी कि उसके इस व्यापार को भुवन-मोहिनी संदेहयुक्त दृष्टि से देख रही है।

भुवन-मोहिनी की दृष्टि उस विशाल रथ पर जा पड़ी जिस पर भारत सम्राट का एकमात्र उत्तराधिकारी आसीन होता था, जो अपनी महानता एवं अमूल्यता के लिए प्रसिद्ध था। भुवन-मोहिनी की दृष्टि में उस यामिनी की सम्पूर्ण स्मृतियाँ प्रत्यक्ष नाचने लगीं, जब उसे इसी रथ पर बिठलाकर विजयश्रवा निर्वासित करने आया था—नहीं, नहीं, उसने स्वयमेव निर्वासन का दण्ड स्वीकार किया था।

भुवन-मोहिनी की दृष्टि में विजयश्रवा का आँसुओं से परिपूर्ण मुखमण्डल उद्भासित हो उठा, जब उसने भुवन-मोहिनी को विदा करते हुए नेत्रों में आँसू भरकर कहा था—

—"जाओ, प्रियतमे ! प्रतीक्षा करना, एक दिन तुम्हारा

राजकुमार यही रथ लेकर तुम्हें बुलाने अवश्य आयेगा।"

भुवनमोहिनी ने अपने आप से प्रश्न किया—"क्या वह दिन आ चुका है? क्या इसीलिए तो राजकुमार वही रथ लेकर आ उपस्थित हुआ है? सचमुच, क्या विजयश्रवा मुझे नहीं भुला सका? या कहीं मुझे भूलकर, अपनी भावी जीवन-सङ्गिनी का दर्शन करने तो नहीं आया? उफ, इस भेद का पता कैसे चले? यदि मैं उसके दृष्टि-पथ पर जा खड़ी होऊँ और वह अपनी महान्ता भूलकर अनुराग-रञ्जित होठों से "प्रियतमे" सम्बोधित कर मेरी ओर बढ़े तब तो सम्राट के राज-सिंहासन का महत्त्व ही खो जायगा। दूर देश में अपकीर्त्ति होगी और यदि यह मान लिया जाय कि वह चन्द्रहासिनी को देखने ही आया हो, तब यदि वह अपने आपको सम्राट के पुत्र के रूप में प्रकट करता तो न केवल महाराज आदित्यसेन एवं राज्याधिकारी वर्ग, वरन् समस्त प्रजा युवराज का स्वागत करती हुई न थकती।"

"यह कामदेव-सा अनुपम लावण्य स्वरूप! क्या छिपाने पर भी छिपाया जा सकेगा? क्या यह विशाल महान् रथ स्वयं न सिद्ध कर देगा कि सम्राट के अतिरिक्त इतना मूल्यवान रथ और किसी के पास है भी नहीं। स्वयं महाराज आदित्य-सेन ने चित्र तो देखा है ही। उन्हें कैसे भुलावे में डाला जा सकेगा? आज तो दर्शन की प्यासी राजकुमारी स्वयं अपने चर्म-चक्षुओं से विकल होकर देखती रही है। क्या वह महा-रानी कुमुदवल्लभा से न चर्चा करेगी। और ज्योंही ज्ञात होगा कि सम्राट का उत्तराधिकारी राजकुमार विजयश्रवा ही

गोपनीय वेश में अपने को धारा नगरी के सर्वश्रेष्ठी का पुत्र बतलाता है, त्योंही विराट राजकीय सम्मान होगा ! सम्पूर्ण गोपनीयता प्रकट हो जावेगी । विजयश्री क्या कारण बतलायेगा कि क्यों वह गोपनीयता वेश में छिपा हुआ रहता था । यदि कहीं सम्राट के पास महाराज ने सन्देशा भेजा और उन्होंने मेरे निर्वासन पर प्रकाश डाला, तब तो बड़ा ही गजब होगा ! यदि अभी मिलूं ....

जब भुवन-मोहिनी अनेक प्रश्नों के अन्तर्द्वन्द्व में भूली एवं ठगी-सी मन-ही-मन कराह रही थी, ठीक उसी समय राजकुमारी चंद्रहासिनी की भी वही अवस्था थी; फिर भी उसे अपनी चिर साधना की सिद्धि प्राप्त करनी ही थी । चंद्रहासिनी जहाँ विकल थी, वहीं उसके आनन्द का पारावार न था । चिर दिनों की उपासना के फलस्वरूप उसके जीवन का देवता स्वयं उसकी द्वार-देहरी पर खड़ा होकर अलभ्य दर्शन का वरदान प्रदान कर चुका था । बड़ा सुखमय था वह दिन, बड़ी पावन थीं वे पुण्यमयी घड़ियाँ । आज की सन्ध्या अनुराग भरे युगों के सूने प्रदीप को, चिर मिलन की ज्योति से ज्योतित करनेवाली थी । वह क्यों न सूने प्रदीपों को दीप्तिमान कर दे ।

राजकुमारी अमर आशा की नव ज्योति अन्तरतम में जलाकर "दीप जलें" के मधुर गायन से वीणा के तारों को झंकृत करने लगी । भुवन-मोहिनी राजकुमारी की एकाग्रता पर मंत्रमुग्ध-सी देखती रही । वह प्राणों की अनहद रागिनी को वीणा के तारों में झंकृत करती हुई अपने आप में खो

गयी। राज-प्रासाद में मानो सङ्गीत की मधुर देवता प्रतिष्ठित होकर राजकुमारी को "दीपक-सिद्धि" का वरदान दे उठी। सम्पूर्ण वातावरण स्तब्ध होकर महान् मनोमोहक बन गया। केवल "दीप जलें" की मधुर स्वर-लहरी झंकृत होती रही।

अन्त में तन्मयता की वह स्थिति आ पहुँची जब राजकुमारी चंद्रहासिनी समाधिस्थ-सी रागिनी के मोहक वातावरण में अपने अन्तरतम को महान् प्रकाश की दीप्ति से जगमग-जगमग कर उठी। किसी देवता ने ज्योति की लक्ष-लक्ष किरणें फैला दीं और वे सहस्रों दीप एक साथ जल उठे। सारे उद्यान में—नगर में—राजभवन में एक साथ ही प्रकाश की लौ जागृत हो उठी।

विजयश्रवा सुमधुर रागिनी की लय में मृगशावक-सा सब कुछ भूला हुआ महान् आश्चर्य देखकर स्तम्भित हो उठा। एक ही क्षण में किसने जलाये अगणित दीप। चारों ओर केवल प्रकाश-पुञ्ज दिखलायी पड़ता रहा। ज्योंही रागिनी समाप्त हुई वातावरण की मोहिनी लुप्त हो गयी। विजयश्रवा विस्मय विमुग्ध-सा उस ललित कण्ठ की मधुमय उच्छ्वासों में मानो बिक-सा गया। उसे तो यही भान था कि दीपक रागिनी उसी की प्रणयिनी भुवन-मोहिनी गाती रही है। तो क्या वही रथारूढ़ होकर राजोद्यान में आयी है? क्या उसे ज्ञात नहीं कि भारत सम्राट का एकाकी पुत्र अपना सर्वस्व समर्पण किये हुए उसके नाम की रट लगा रहा है?

वह पर्ण कुटी परित्यागकर उद्यान के प्रवेशद्वार पर जा खड़ा हुआ। विजयश्रवा के कानों में रथ के पहियों की घर-

घराहट स्पष्ट सुनायी पड़ने लगी। उसने सङ्कल्प किया——"चाहे जो भी परिणाम हो, वह रथारूढ़ मुर्त्ति को विना देखे आगे न बढ़ने देगा"।

वह द्वार पर सावधान होकर अपलक दृष्टि किये खड़ा रहा। रथ के बाहर-भीतर पर्याप्त प्रकाश था, जिससे उसने रथ के भीतर दो सहज ही आकर्षक चन्द्रमुख देखे। वह ठगा-सा, विस्मित-सा क्षण भर खड़ा रहा; किंतु दूसरे ही क्षण गम्भीर वाणि में आदेश देता हुआ बोल उठा—"सारथी! रथ रोक दो!"

अनिच्छा होते हुए भी मंत्रमुग्ध-सा सारथी घोड़ों की रास खींचकर विजयश्रवा के देव-दुर्लभ स्वरूप की झाँकी देखने लगा। उसे आश्चर्य भी हुआ कि कैसे उसने अपरिचित व्यक्ति के कहने पर राजकुमारी का रथ रोक दिया; किन्तु वास्तव में बात सच्ची यही थी कि आज से पूर्व सारथी ने वैसा दिव्य पुरुष न तो देखा था और न वैसे पुरुष के सहज आदेश के आकर्षण में उतना तीव्र मोहित हुआ था।

चन्द्रहासिनी भी जैसे चाहती ही थी कि क्षण भर, केवल एक क्षण उस हृदय देवता का दर्शन करूँ, जिसके चित्र को जीवन-निधि की भाँति संजो कर रखती आयी थी।

उद्दण्ड एवं निरंकुश की भाँति विजयश्रवा सारथी के बैठने के स्थान पर द्रुत वेग से रथ पर चढ़ आया। पूर्ण प्रकाश तो था ही। उसने दो चन्द्रवदन देखे और दोनों चिर परिचित जैसे।

प्रथम दृष्टि ही में वह भुवन-मोहिनी को पहचान गया

और भुवन-मोहिनी ने भी उसे । किन्तु भुवन-मोहिनी की लज्जित दृष्टि मानो कोई ऐसा निरापद एवं एकान्त स्थल रथ में ही खोजने लगी, जहाँ अपने को छिपाकर राजकुमार की दृष्टि से ओझल हो जावे ।

दूसरे ही क्षण विजयश्रवा की चञ्चल दृष्टि राजकुमारी चंद्रहासिनी के सस्मित-सलज्ज मुखड़े पर जा पड़ी । ओफ़, इस मुखड़े में भी कितना घोर आकर्षण था जो क्षण भर देखने-वाले को भी बिना ठगे नहीं रह सकता था !

विजयश्रवा ने उमड़ते हुए सौन्दर्य-सागर में जैसे दो चाँद देखे ! सृष्टि के दोनों मुखड़े महान् आश्चर्यमय । वह ठगा-सा दोनों मुखड़ों में कोई भेद न कर सका कि किसकी ओर अधिक समय तक देखे ! और हाँ, अभद्र की भाँति अधिक समय तक उसे देखने का अधिकार ही क्या था ?

जब उसकी अपलक दृष्टि चन्द्रहासिनी के विशुभ्र मुखड़े पर गड़ी हुई थी, तब सतृष्ण एवं द्वेषपूर्ण दृष्टि से भुवन-मोहिनी उसे देखकर मानो कह रही थी—" रूप के जादूगर ! शीघ्र दृष्टि से ओझल हो जाओ । मुझे भी अपनी तरह उद्दण्ड मत बनाओ ! कैसे भी क्यों न हो, अन्ततः मैं एक नारी हूं, लज्जा के आवरण से ढँकी हुई ! मुझे निर्लज्ज बनाकर तुम क्या पाओगे ! देखो, लज्जा के दूर होते ही मेरा सर्वस्व लुट जायेगा—मेरे नारित्व का आकर्षण विकृत हो जायेगा । इसे मेरा सर्वनाश ही समझो ! यदि मैंने भी अचञ्चल दृष्टि से तुम्हें देखना प्रारम्भ किया तो हमारे प्रेम की सारी गोपनीयता न जाने कैसे परिणाम सामने लाये । क्षमा करो, अपनी दृष्टी

फिरा लो। कहीं चन्द्रहासिनी भेद की बातें न जान पावे।"

विजयश्रवा चन्द्रहासिनी को भी उसी सोख लेनेवाली सतृष्ण दृष्टि से देख रहा था। वह अपना स्मित लज्जापूर्ण मुख नीचे किए—क्षण भर में ही दृष्टि बचाकर—युग-युग की प्यासी आँखों की तृष्णा बुझाने का जितना ही प्रयास कर रही थी, उतनी ही दर्शन प्यास, अगस्त्य की तृष्णा बनकर, रूप के सागर को पी जाना चाहती थी।

यह सारे व्यापार कितनी शीघ्रता से हो रहे थे कि इन्हें भाँप लेना कोई साधारण बात न थी। मन ही मन विजयश्रवा कह रहा था—"अब तक सारी सृष्टि का सौन्दर्य एक ही चन्द्र-मुख में प्रतिभासित होता दिखाई पड़ा था, किन्तु आज की यह कैसी आश्चर्यपूर्ण घड़ी कि एक ही सृष्टी में दो चन्द्र-मुख अपनी आकर्षणपूर्ण किरणें डाल रहे हैं।"

विजयश्रवा ने दोनों चन्द्र-मुखों के द्वन्द्व में अपने एकाकी प्रेम-व्यापार को फँसाकर, जैसे दो नावों के बीच अपने पैर डाल दिये। एक ही नाव में दोनों पैर रखकर प्रेम-पयोधि का पार करना दुस्तर हो रहा था! अब तो जीवन-तरी को खेनेवाली पूर्णतः अदृश्य शक्ति थी, जो पता नहीं विजयश्रवा को अगाध मध्य धारा में डालकर डुबोना चाहती थी अथवा पार लगाना, कौन जाने।

अन्त में सारथी को विवश होकर बाधा देनी पड़ी। वह बोला—"देव किसे खोज रहे हैं? यह रथ तो राजकुमारी चन्द्रहासिनी का है। क्या अपरिचित के द्वारा मार्ग में रथ रोकना कभी क्षम्य माना जायगा?"

—"मैं विवश हूं, सारथी ! मुझे क्षमा करना ! मुझसे भूल हुई। कृपया मेरी ओर से दोनों देवियों से क्षमा याचना कर लेना। मैं किसी परिचित मित्र को खोजने के बहाने अनजान में अपराध कर बैठा हूं। क्या अपरिचित के प्रति दया का व्यवहार न किया जायेगा ?"

सारथी विजयश्रवा की बातें सुनकर राजकुमारी चन्द्रहासिनी की ओर देखने लगा। संभवतः इस आशा से कि एक अपरिचित के द्वारा रथ रोके जाने के कारण कहीं राजकुमारी अप्रसन्न तो नहीं हैं ? अथवा, दूसरे के अपराध का दण्ड कहीं उसे तो न भोगना पड़ेगा ?

राजकुमारी विजयश्रवा की उद्दण्डता से मन ही मन अतीव प्रसन्न थी और इच्छापूर्वक राजकुमार का दर्शन करने के उपरान्त, उसने अपनी स्मित दृष्टि नीची करली थी। वह सारथी की ओर से राजकुमार को लक्ष्य करती हुई बोली — "सारथी ! यूँ तो अवश्य ही उक्त व्यवहार महिलाओं की दृष्टि में पर्याप्त अभद्र है, किन्तु भूल—भूल ही है। हम दोनों भी उसे भूल ही मानते हैं। अस्तु, क्षमा याचना का कोई प्रश्न ही नहीं। हम दोनों के लिए इस राजोद्यान में आकर ठहरनेवाला कोई भी अपरिचित व्यक्ति स्वजन के तुल्य ही है, क्योंकि इस राजोद्यान में विश्राम करने की अनुमति केवल उन्हें दी जाती है, जिन्हें पहले ही राजकीय आदेश प्राप्त रहते हैं।" एक मधुर मुस्कुराहट दोनों महिलाओं के ओठों पर आकर रुक गई। चन्द्रहासिनी ने एक बार पुनः दृष्टि उठाकर विजयश्रवा को देखा। राजकुमार की दृष्टी राजकुमारी पर जमी हुई थी।

वह ओठों ही में मुस्कुरा उठी। एक बार पुनः लज्जा की अरुणिमा कपोलों पर दौड़ गई। संन्यासी के अग्नि-वस्त्र-सा सम्पूर्ण मुखड़ा हलकी लालिमा से अनुराग-रञ्जित हो उठा।

चन्द्रहासिनी ने आदेश दिया—"सारथी ! रथ बढ़ाओ !" विजयश्रव ठगा-सा दोनों महिलाओं को देखता रह गया।

दूसरे दिन प्रभातकाल होते ही भुवन-मोहिनी महाराज आदित्यसेन के समीप जा पहुँची। वे जैसे उसकी प्रतीक्षा ही कर रहे थे।

भुवन-मोहिनी ने महाराज को अभिवादन किया।

—"कुछ पता लगा, भुवन-मोहिनी। राजोद्यान में ठहरने-वाले युवक धारा नगरी के सर्वश्रेष्ठी के पुत्र हैं अथवा सम्राट द्युमत्सेन के उत्तराधिकारी—भारत के भावी सम्राट ?"

"यही सत्य है, महाराज ! राजकुमार विजयश्रवा ही भारत का भावी सम्राट है। अवश्य ही राजकुमार अपने को छिपाए रखने के कारण ही धारा नगरी के सर्वश्रेष्ठी का पुत्र बतलाते हैं। किन्तु, वास्तवता जो है, उसे राजकुमारी चन्द्र-हासिनी भी जान गई हैं।"

—"राजकुमारी को कैसे ज्ञात हुआ ?"

—"उनके पास राजकुमार विजयश्रवा का चित्र था। वे चित्र के साथ मिलाकर पहचान गई कि वह युवक वास्तव में राजकुमार विजयश्रवा ही है।"

आज महाराज आदित्यसेन की प्रसन्नता की कोई सीमा न थी। यथा शीघ्र भृत्यवर्ग बुलाये गये और आदेश निकाला गया कि भावी सम्राट के सम्मान में समस्त राज-कार्य

स्थगित रखे जावेंगे और इन्द्रप्रस्थ में सर्वत्र महोत्सव मनाया जावेगा।

भुवन-मोहिनी को महाराज ने अमूल्य आभूषण एवं वस्त्र पुरस्कृत किये और आदेश दिया कि वह आज इन्हीं आभूषणों एवं वस्त्रों को धारणकर महोत्सव के समय अपने नृत्य एवं संगीत से, राजकुमार विजयश्रवा एवं सारे सभासदों का मनोरंजन करेगी।

महोत्सव के मनाने का विशाल आयोजन किया गया और स्वयं राजकुमार विजयश्रवा को महाराज आदित्यसेन आमंत्रित करने गये। विजयश्रवा ने समझ लिया कि उसे पहचाननेवाली भुवन-मोहिनी एवं चन्द्रहासिनी दोनों महिलाएँ ही हैं।

कहाँ तो राजकुमार विजयश्रवा का सारथी एवं अरण्यक आपस में तय कर चुके थे कि यथासम्भव वे दोनों अपने जीवन की बाजी लगाकर भी राजकुमार को भुवन-मोहिनी की चर्चा से अवगत न कराएँगे। कहां भवितव्यता ने स्वयं भुवन-मोहिनी एवं राजकुमारी चन्द्रहासिनी को, एकान्त में ही परिचित कराकर, उनके भावी संयोगों की पृष्ठभूमि को सुदृढ़ करा दिया।

महाराज आदित्यसेन की राजसभा में तिल रखने का स्थान न था। जहाँ तक सम्भव था, दूर-दूर से जनता का आह्वान किया गया था। एक शुभ घड़ी जो थी न! भारत का भावी सम्राट—रूप का देवता—चन्द्रहासिनी जैसी सौन्दर्यशालिनी राजकुमारी का स्वयंवर किया हुआ भावी पति—आज की राजसभा की शोभा बढ़ानेवाला था।

पुरुषों के खुले स्थान के अतिरिक्त महिलाओं के बैठने का भी आयोजन था। महारानी कुमुदवल्लभा, राजकुमारी चन्द्र-हासिनी, बड़ी-बड़ी सामन्त-पत्नियाँ तथा सर्व-साधारण जनता की रमणियाँ उक्त दरबार में उपस्थित थीं।

सब के नेत्र प्रवेश-द्वार की ओर लगे थे। स्वयं महाराज आदित्यसेन, सामन्त एवं मंत्री वर्ग तथा सर्व-साधारण मिलकर सम्राट के युवराज विजयश्रवा को बड़ी धूम-धाम के साथ लिवाने गये थे। सम्पूर्ण राज-पथ तोरण, बन्दनवारों तथा स्वर्ण-दीप-कलशों से शोभायमान था। स्थान-स्थान पर महिलाएँ माङ्गलिक गीत गाती हुई, युवराज का अभिनन्दन कर रही थीं।

विजयश्रवा के साथ केवल अरण्यक भर ही रथ में बैठा था। किन्तु वह रथ, जिस पर विजयश्रवा आसीन था, बहुमूल्य हीरक एवं मौक्तिक मालों की बन्दनवारों से तेजस्वी सूर्य रथ जैसा देदीप्यमान था। स्वर्ण-मण्डित रथ पर चमकनेवाले अगणित हीरा, पन्ना, पुखराज, लाल, नीलम आदि बहुमूल्य प्रस्तर ठीक नवग्रह की भाँति ही चन्द्र रूपी रथ को घेरे हुए थे। उसके भीतर कामदेव-सा तेजस्वी विजयश्रवा अति साधा-रण वेष में मधुर-मधुर मुस्कुराता हुआ राजपथ पर खड़ी श्रेणीबद्ध जनता का सादर अभिवादन स्वीकार करता जाता था।

विजयश्रवा का रथ मधुर वाद्य-स्वरों की झङ्कार एवं जन-रव के कोलाहल के बीच राजसभा स्थल पर जा पहुँचा। राज-परिवार की रमणियाँ विजयश्रवा को अपलक दृष्टि से

देखते हुए, मन ही मन, चन्द्रहासिनी के सौभाग्य से ईर्षा करने लगीं। स्वयं महारानी कुमुदवल्लभा ने आकाश की ओर हाथ उठाकर भगवान से प्रार्थना की कि चन्द्रहासिनी का जीवन-सूत्र राजकुमार विजयश्रवा के साथ ही बँध जावे।

एक विशाल उच्च मञ्च पर विजयश्रवा के आसीन होने के लिए राज-सिंहासन सुशोभित था। सुरेश की भांति विजयश्रवा उक्त राज-सिंहासन पर आसीन हुआ। उसी के पार्श्व में महाराज आदित्यसेन का सिंहासन था। वे भी अपने स्थान पर जा बैठे।

सामन्त श्रेष्ठी तथा जन-साधारण वर्ग अपने-अपने नियत स्थान पर बैठकर राजसभा की शोभा बढ़ाने लगे। नियमानुसार अभिवादन एवं उपहारादिक ग्रहण करने के पश्चात् भुवन-मोहिनी के कङ्कण-किङ्किणी का मधुर कल-रव सुप्त श्रृङ्गार भाव को जागृत कर उठा।

आज भुवन-मोहिनी उर्वशी-सी सजकर मानो बड़े-बड़े तपस्वी एवं संयमी पुरुषों के लिए भयदायक सिद्ध हो रही थी और रागी प्रकृति के पुरुषों की तो बात ही क्या थी। वे अपलक दृष्टि किये, धराधाम पर अवतरित रूपसी-कामिनी के दर्शन से चित्र लिखे-से बैठे थे। मानो सुन्दरता एवं श्रृङ्गार शरीर धारणकर भुवन-मोहिनी के रूप में राजसभा में उपस्थित थे।

सारी राजसभा की दृष्टि विजयश्रवा एवं भुवन-मोहिनी को देखकर थकित हो रही थी। जैसे ही भुवन-मोहिनी भ्रू-कटाक्ष निक्षेप करती हुई, अचञ्चल दृष्टि से गायन के पूर्व विजयश्रवा एवं महाराज आदित्यसेन को अभिवादन करने आगे

बढ़ी, सारी राजसभा में मृत्यु की सी शांति छा गई। विजयश्रवा भुवन-मोहिनी के अभिवादन को अपरिचित-सा अङ्गीकार करके उस ओर देखने लगा, जहाँ राजमहिषी एवं राजकुमारी बैठी हुई थीं।

राजकुमारी चन्द्रहासिनी एक झीने से पट के पीछे बैठी हुई निर्निमेष दृष्टि से विजयश्रवा को देख रही थी। उक्त व्यापार उन रमणियों से छिपा न था जो राजमहिषी के साथ राजसभा में उपस्थित थीं, किन्तु कोई रमणी किसी अन्य रमणी के आसक्ति पर हँसने की क्षमता न रखती थी। विजयश्रवा सभी नर-नारियों की नेत्र-दृष्टि को सफल कर रहा था।

भुवन-मोहिनी जैसे ही गायन के पूर्व अलाप भरने लगी, उसका हृदय काँप उठा। अन्त:करण में बिजली कौंधने लगी। अभीतक विजयश्रवा उसे उपेक्षित दृष्टि से देख रहा था, अस्तु उसकी आन्तरिक अभिव्यक्तियों को पहचाननेवाला कोई न था। किन्तु अलाप के गुञ्जन के साथ ही उसकी दृष्टि भुवन-मोहिनी के मुख पर अँटक गई। चन्द्रहासिनी की अन्त-रात्मा यह देखकर चीत्कार कर उठी। उसे भुवन-मोहिनी की रूप-गरिमा से द्वेष हो उठा। काश, वह भी अन्तर-परिधान के बाहर होती।

जैसे ही भुवन-मोहिनी के मुख से स्वर-लहरी निकली, चारों ओर मानो मायावी आकर्षण छा गया। भुवन-मोहिनी का मूल्य आज की राजसभा में अनमोल कूता जाने लगा। भुवन-मोहिनी अन्तर्बाह्य की एकाग्रता में तन्मय होकर विरहिणी

कोकिल की भांति—प्रियतम ऋतुराज के सान्निध्य में—चिर-वियोग का आभास अनुभव करती हुई मानो अन्तरतम की बात गा उठी—

बिछुड़े साजन क्या न मिलेंगे ?
उन्हें बुलाते मैं हारी, रे !
आकुल प्रति पल युग-सम बीते
पतझड़ से निशि वासर रीते
हाय ! थकी मैं प्राण पिरीते
सुन ले, मैं हूँ दुख मारी, रे।

भुवन-मोहिनी की करुण रागिनी में उसीके आकुल हृदय की मूर्च्छना-मय विरह-वेदना थी, जिसे वह अपने प्रियतम से व्यक्त कर रही थी; किन्तु स्वयं विजयश्रवा भी असफल प्रेम की करुण टीस लिए शून्य में खोया-सा भुवन-मोहिनी से कुछ कहने के लिए व्याकुल-सा था। जिस पीड़ा की मर्मभेदिनी कराह भुवन-मोहिनी को रुलाए जा रही थी, ठीक वही पीड़ा चन्द्रहासिनी को भी अपने अन्तर में टटोलने पर मिल रही थी। चन्द्रहासिनी देख रही थी—एक निरीह तन्मयता, जो विजयश्रवा के मुख-मण्डल पर प्रत्यक्ष ही उभर आई थी।

यूँ तो सम्पूर्ण राजसभा भुवन-मोहिनी की आकुल संगीत-लहरी को, प्रेम अभिव्यक्ति की कला समझकर, उसकी प्रशन्सा के गीत गा रही थी; किन्तु चन्द्रहासिनी इस गोपनीय मर्म की पारखी-सी समझ रही थी कि वास्तव में भुवन-मोहिनी पर क्या बीत रही है। चन्द्रहासिनी देखकर जान सकी थी कि विजयश्रवा का हृदय प्रेम-पीड़ा से रीता नहीं; किन्तु वह यह

न जान पायी थी कि अन्ततः भुवन-मोहिनी एवं विजयश्रवा के हृदय की विदग्धता किसके लिए !

महाराज आदित्यसेन भुवन-मोहिनी पर इसलिए प्रसन्न थे कि वह विजयश्रवा को अपनी सङ्गीत-लहरी के द्वारा आकर्षित कर चुकी थी। उन्हें क्या भान हो सकता था कि जिस सम्राट के पुत्र पर वे अपनी रूपसी कन्या को न्यौछावर करनेवाले हैं, उसी राजकुमार की भुवन-मोहिनी प्रेयसी है ! उसी भुवन-मोहिनी के लिए सम्राट के राजसिंहासन को भी विजयश्रवा ठुकरा देनेवाले हैं।

सचमुच वह युग एक सामन्ती युग था। बड़ी-बड़ी रूपवती कुलीना स्त्रियाँ उस युग में अपने सौन्दर्य के नाम पर नृशन्स अत्याचारों की यातनाएँ झेला करती थीं। किसका साहस था, उस मध्ययुगीन सभ्यता के दिनों में उन सामन्ती शूर-वीरों की इच्छाओं एवं आकांक्षाओं के विपरीत एक शब्द भी कहने का ! उफ़, भुवन-मोहिनी सब-कुछ जानती-समझती हुई भी, हृदय पर पत्थर रखकर अपने जीवन-अतिथि के सामने अपरिचित-सी, अजनबी-सी, हृदय की गोपनीय पीड़ा की सूक्ष्म अभिव्यक्ति करती जा रही थी।

महाराज आदित्यसेन भुवन-मोहिनी को पुरस्कृत करने की बात सोच रहे थे; किन्तु वे विजयश्रवा के आत्म-विभोर होने की स्थिति से घबराते भी जा रहे थे। उन्हें भय लग रहा था कि भुवन-मोहिनी जैसी कला की मर्मज्ञा किस प्रकार कुछ क्षणों की देरी में सम्राट-पुत्र को अपने वश में करती जा रही है। भुवन-मोहिनी स्वयं महाराज आदित्यसेन को संगीतकला का पारखी

समझती थी और स्वयं गोपनीय भावनाओं पर पूर्ण संयम रखते हुए वह विजयश्रवा को संगीत के कलात्मक तथ्यों की ओर आकर्षित रखने का स्वांग रच रही थी किन्तु भयानक सत्य छिपाया नहीं जा सकता था। विजयश्रवा की तन्मयता ही सिद्ध कर रही थी कि वह भुवन-मोहिनी के आकर्षण बिन्दु में ठीक उसी स्वाभाविकता से खिंचता आरहा है जैसे चुम्बक के द्वारा लोह खिंचता है।

भुवन-मोहिनी ने एक के पश्चात् अनेक गीत गाये, किन्तु वे सब विष-बुझे तीर-से विजयश्रवा को आत्म-चेतनाहीन बनाते जारहे थे। संगीत की कड़ियों में असफल प्रणय की आकुल पीड़ाएँ सिहरकर एक तीव्र हाहाःकार भरती जारही थीं। सारी राजसभा भुवन-मोहिनी पर अनुरक्त होती जा रही थी और जब भुवन-मोहिनी अर्द्ध-रात्रि की निस्तब्ध वेला में हृदय को कँपा देनेवाली विहाग-रागिनी की करुण मीड़ें खींचने लगी तब तो मानो सारी राजसभा विरह-विदग्ध होकर भुवन-मोहिनी को इस प्रकार देखने लगी जैसी कोई देवकन्या शापवशात् स्वर्गभ्रष्ट होकर अपने जीवन की करुण आत्मकथा सुना रही हो, और प्रत्येक हृदय उस करुण रागिनी को सुनते-सुनते इतना विदग्ध हो चुका हो कि केवल सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए भी उसे आँसुओं की धारा बहानी पड़ी हो। विजयश्रवा तो इतना तन्मय हो चुका था कि उसे अपने हँसने-रोने तक का भान न रह गया था और वह अपने पद का सम्मान-भाव भी भूलने लगा था।

जैसी स्थिति भुवन-मोहिनी की विकल रागिनी ने राज-

सभा की करदी थी उसे देखते हुए महाराज आदित्यसेन जैसे वयोवृद्ध भी अपने तरुण जीवन की असफल प्रेम-कहानियों का संस्मरण करने लगे थे। भुवन-मोहिनी के संगीत का आकर्षण इतना प्रभावपूर्ण सिद्ध हो चुका था कि सारी राजसभा उन्हीं भावनाओं में सोचने-विचारने लगती थी, जिन भावनाओं के सहारे भुवन-मोहिनी गाती थी।

अर्द्ध-रात्रि से भी अधिक वेला व्यतीत होजाने पर राज-कुमार विश्राम के लिए चल पड़ा। उसके सम्मान में सारी राजसभा उठ खड़ी हुई। अब भुवन-मोहिनी के संयम का भी पुल टूटना प्रारम्भ हो चुका था। वह अपनी दयनीय स्थिति समझते हुए भी, सहज प्रेम की तरल धारा को रोक सकने में असमर्थ थी। इसलिए वह इस प्रकार खड़ी हुई कि जानेवाले विजयश्रवा की दृष्टि उसपर अवश्य पड़े और वह भी मुक्त रूप से अपने जीवन-अतिथि का दर्शन कर सके।

विजयश्रवा अनमना-सा धीरे-धीरे चरण रखता हुआ चल रहा था। सहसा उसकी दृष्टि चन्द्रहासिनी पर जा पड़ी। आज चन्द्रहासिनी भी षोड़ष-शृङ्गारयुक्त थी और उसकी सौन्दर्य-कलाएँ चारों ओर बिखरकर उसके आस-पास के वातावरण को आकर्षक और मनोमोहक बना रही थी।

अब तक यह द्वितीय चाँद मुक्त रूप से विजयश्रवा की दृष्टि-पथ से ओट में छिपा हुआ था। स्वयं चन्द्रहासिनी तो विजयश्रवा को देख रही थी, किन्तु विजयश्रवा को भुवन-मोहिनी के अतिरिक्त अन्यत्र कुछ न दिखाई पड़ता था। जब विजय-श्रवा की प्रथम दृष्टि चन्द्रहासिनी पर पड़ी तो सहसा उसके

पांवों की गति में मन्थरता आगई। नेत्र-दृष्टि उलझी-सी चन्द्रहासिनी के मुखड़े पर स्थिर होगई। चन्द्रहासिनी किसी भविष्य की सुखद्-कल्पना में डूबी हुई, विजयश्रवा के मुख पर उभरनेवाले अनेक मनोभावों को ध्यानपूर्वक देख रही थी।

रानी कुमुदवल्लभा की दृष्टि से विजयश्रवा एवं चन्द्रहासिनी के गोपनीय आदान-प्रदान करनेवाले व्यापार छिपे न रह सके। जैसे विजयश्रवा दृष्टि चन्द्रहासिनी के मुखड़े पर पड़ी मानो वह आश्चर्य-अवाक् होकर चन्द्रहासिनी की दृष्टि में अपनी दृष्टि डालकर पूछ बैठा कि यह द्वितीय चाँद अबतक ओट की बदली में क्यों छिपा था? क्या लज्जा के आवरण में छिपे हुए चन्द्रमुख की सौन्दर्य-किरणें, आसपास के वातावरण में पड़कर चारों ओर सम्मोहन जाल नहीं बिछा रही थीं? इस प्रकार राजकुमार को—एक आमन्त्रित अतिथि को— मुक्त दर्शन से वञ्चित रखना क्या अपराध न था?

राजकुमार विजयश्रवा आगे बढ़ गया। चन्द्रहासिनी प्यासी की प्यासी! वह बढ़ी और महिलाओं के मार्ग से आगे बढ़कर शीघ्रतापूर्वक अपने रथपर जा बैठी। राजकुमारी के साथ-साथ उसकी सखियाँ एवं दासियां भी रथारूढ़ होगईं। राजकुमारी ने रथ आगे बढ़ाने का आदेश अपने सारथी को दिया। चन्द्रहासिनी का रथ उसी राज-मार्ग पर चलने लगा जहाँ से विजयश्रवा भी जानेवाला था।

राजकुमारी इस समय निःस्तब्ध रात्रि की पीयूषवर्षिणी चन्द्र-किरणों में स्नान करती हुई, मानो अमर प्रेम की अजस्र-धारा के द्वारा अमरत्व प्राप्त कर रही थी। इस समय उसके

साथ भुवन-मोहिनी न थी और न जाने क्यों, भुवन-मोहिनी की अनुपस्थिति से चन्द्रहासिनी मन-ही-मन बड़ी प्रसन्न थी।

जब राजकुमारी का रथ राज-मार्ग पर पर्याप्त आगे बढ़ आया तब उसकी एक सखी ने रथ की चाल को धीमी रखने का आदेश दिया। परिणाम यह हुआ कि दस-पाँच मिनट में विजयश्रवा का रथ चन्द्रहासिनी के रथ के पीछे चलने लगा। प्रकाश-स्तम्भ की उज्ज्वल किरणें चन्द्रहासिनी के मुख पर पड़ने लगीं और राजकुमार विजयश्रवा के साथ उसकी चार आँखें हुईं।

सचमुच आकाश-मार्ग पर चन्द्रदेव हँस रहे थे और मेदिनी में चारों ओर वे चन्द्र-किरणें अमृत वर्षा कर रहीं थीं। ठीक इसी समय चन्द्रहासिनी की एक सखी ने एक सुरभित माला विजयश्रवा के ऊपर डाल दिया। यह कार्य इतनी शीघ्रता एवं दक्षता से किया गया था कि राजकुमार अपने ऊपर माला फेंकनेवाली सखी को न देख सका। अर्द्ध-प्रस्फुटित हास्य में विजयश्रवा इतना ही कह सका— "मैं धन्य हूं, आज मुझ पर आकाश-मार्ग से पुष्प माल बरसाये जारहे हैं।"

यह बात राजकुमारी के कर्ण-कुहरों में भी सुनाई पड़ी। उसने अविश्वास की दृष्टि से विजयश्रवा को देखा। किन्तु विजयश्रवा ने उसी हार की ओर इङ्गित कर दिया। चन्द्रहासिनी के विस्मय का ठिकाना न रहा।

—"अरे, यही तो वह हार है, जिसे क्षणभर पूर्व वह स्वयं धारण किये हुए थी।"

—"राजकुमार के समीप वह हार पहुँचा कैसे?" जिज्ञासा

भरी दृष्टि से चन्द्रहासिनी ने सखियों की ओर देखा।

—"मैंने राजकुमार पर फेंका है।" उसकी अति प्रिय सखी बोली।

क्षणभर के लिए दोनों रथ रुक-से गये। विजयश्रवा ने चन्द्रहासिनी को लक्ष्य करके, अपने गले में धारण किया हुआ पुष्प-माल फेंक दिया जो ठीक चन्द्रहासिनी के शीश पर जा गिरा।

—"यह मेरी पूजा के फूल हैं! क्या स्वीकार होंगे?"

—"अवश्य!" विजयश्रवा को लक्ष्यकर चन्द्रहासिनी बोल उठी; किन्तु दूसरे ही क्षण लज्जा की लालिमा से सम्पूर्ण चन्द्र-मुख अनुरागरञ्जित हो उठा।

—"स्मरण रहे, साक्षी चन्द्रदेव हैं!" उपहास भरे शब्दों में चन्द्रहासिनी की एक सखी बोल उठी।

—"सखी! समय की प्रतीक्षा करो, अनुकूल समय को आने दो, फिर स्मरण कराने की आवश्यकता न रह जायगी।" कहते हुए विजयश्रवा चन्द्रहासिनी को देखने लगा।

चन्द्रहासिनी की वह सखी एक विदुषी रमणी थी। सभा-चातुरी का उसमें प्रमुख गुण था। उसने देखा कि विजयश्रवा उसकी राजकुमारी की निर्निमेष दृष्टि से देख रहा है और स्वयं राजकुमारी भी विजयश्रवा की दर्शन-प्यासी होते हुए भी, लज्जा के कारण भूमि कुरेद रही है। एक प्रकार से दोनों रथों के सारथी-गण भी, घोड़ों को खड़े रहने का मौन सन्देश देकर बागडोर ढीली किये हुए चुपचाप बैठे हैं।

उस सखी ने जानबूझकर रथ के नीचे चन्द्रहासिनी के

धारण करनेवाला एक मूल्यवान मणि-हार हाथ से गिरा दिया जिसे अभी कुछ ही क्षण पहले चन्द्रहासिनी ने गले से उतारा था और जिसे सावधानीपूर्वक रखने का आदेश देकर, उपरोक्त सखी को सौंप दिया था ।

सखी ने कुछ आश्चर्य, कौतूहल और भय-मिश्रित वाणी में हकला कर कहा—"अरे, यह कैसी विपत्ति ?"

—"क्यों, क्या हुआ ?" राजकुमारी ने प्रश्न किया ।

—"राजकुमारी के गले का मणि-हार नहीं दिखाई पड़ रहा है ?" सखी ने कहा ।

—"अरे, अभी तो मैंने अपने गले से उतारकर तुझे सावधानीपूर्वक रखने के लिए दिया था, क्यों क्या हुआ ? वह हार तूने पेटी में रखा या नहीं ?" राजकुमारी ने भी चिन्तित मुद्रा में पूछा ।

—"श्री राजकुमारी से लेकर मैं उसे सावधानीपूर्वक रखने ही जारही थी, सहसा राजकुमार विजयश्रवा का रथ समीप आ पहुँचा । हम सब सखियाँ राजकुमार की दर्शन-लालसा में डूबी हुई उन्हीं की पावन प्रतिमा देखती रहीं । सहसा अब देखती हूं तो मुझे मणि-माला नहीं मिल रहा है ?

—"कहीं पीछे मार्ग में तो नहीं गिराया ?" कुछ अधिक चिन्तित मुद्रा में राजकुमारी चन्द्रहासिनी बोली ।

—"कह नहीं सकती ।"

—"तो रथ वापस लौटाओ और पीछे जाकर खोजकरो।"

अबतक राजकुमार विजयश्रवा के कर्ण-कुहरों में भी हार खो जाने की भनक पड़ चुकी थी । अतः वह स्वयं सखी के साथ

रथ से नीचे उतर पड़ा। फिर क्या था! दोनों सारथी भी नीचे उतरे। इधर राजकुमारी के रथ से सखी भी नीचे उतरी।

राजकुमार विजयश्रवा भूमि पर उतरकर राजकुमारी कि मणि-माला की खोज करने लगा। अब चन्द्रहासिनी भी चुप-चाप न बैठ सकी—वह लज्जित-सी रथ के नीचे उतरी—उसे अतिथि राजकुमार का इस प्रकार कष्ट उठाना अखरा।

जब वह रथ से उतर रही थी, उस समय विजयश्रवा की दृष्टि उसी को खोज रही थी। यद्यपि उचटती हुई दृष्टि से आज की राजसभा में दोनों ने एक दूसरे को देखा था, किन्तु राज-पथ पर अर्द्ध-रात्रि की नीरवता में, जब चारों ओर शांति का साम्राज्य छाया था; सारी धरित्री चाँदनी में स्नान कर निखर उठी थी; रजत-रात्रि की उस अनुपम वेला में—मानो विजयश्रवा ने एक सजीव एवं निष्कलुष चन्द्रमा का दर्शन किया, जो सुनील-मणि-खचित रथाकाश से उतरकर भूमि को अपने पावन चरण-स्पर्श से कृतकृत्य करने जारहा था।

विजयश्रवा ने देखा—जैसे स्वयं रति मानवी स्वरूप धारणकर रथ से नीचे उतर रही हो। वे बड़े-बड़े खञ्जन-शावक नेत्र, प्रेम-महानता एवं आत्म-मर्यादा के गौरव से गम्भीर एवं सम्मोहक जो तरल-स्नेहसुधा से सर्वदा अभि-सिञ्चित थे, चारों ओर मोहिनी बिखेरते हुए कुछ खोजने का अभिनय करने लगे।

चन्द्रहासिनी रथ से नीचे उतरकर एक जगह ठिठकी-सी खड़ी रह गई। उसकी वे गुँथी हुई केश-राशियाँ त्रिविध समीर के झोंके खा-खा कर नाज़ पिलाई हुई नागिन की तरह लों त्रं

खा रही थीं। हलकी बसन्ती रेशमी साड़ी सुरभित द्रव्यों के मद को वायु-मण्डल में बिखेरती हुई सुप्त रति-भावना को जागृत कर रही थी। वह स्वयं अपने में विश्व की रूप-राशि को सिमेटे हुए मोहिनी की माया बरसा रही थी।

वन की त्रिविध समीर हृदय-स्पन्दन को गति देती हुई, चन्द्रहासिनी की अभिनव कोमल प्रेम-लताओं को आशाओं एवं नव आकांक्षाओं के पुष्पों से सुसज्जित कर रही थी। जीवन के एकान्त तट पर—जहाँ चन्द्र की पीयूष-वर्षिणी किरण-मालिकाएँ त्रिविध-बयार के झोकों से मदोन्मत्त होकर कामनाओं की ताल में थिरक रहीं थीं, एक मनोमुग्धकारी दृष्टि-विलास द्वारा चन्द्रहासिनी ने विजयश्रवा को स्पर्श किया।

अर्द्ध-रात्रि नीरव, निस्तब्ध !!! चन्द्र-ज्योत्स्ना से पुलकित विजयश्रवा की अनुरागमयी आकांक्षाओं को विशद् वरदान दे रही थी। वह कामदेव-सा सिहर कर, प्यासी एवं उन्माद भरी दृष्टि से चन्द्रहासिनी का दर्शन करने लगा।

चन्द्रहासिनी ने भी देखा—"रूप का देवता उसके सामने खड़ा है। उससे भिखारी-सा प्रेम की याचना कर रहा है। वह जिसे गूढ़ समझती आई है, वह कितना स्पष्ट सामने है।"

चन्द्रहासिनी ने देखकर भी नहीं देखा। क्षणभर के लिए उसके अरुण-अनुरागरञ्जित होठों में भी विजेता की भांति मद-भरी मुस्कान नाच उठी।

"यह रूप का देवता सामने खड़ा है। यह कितनी नारियों के जीवन में महान् आकर्षण बनकर छा गया होगा ! कितनी चन्द्रमुखी नारियाँ इसके प्रेम से निराश होकर या तो

इसे अभिशाप दे रही होंगी या उसीकी स्मृति में सदा के लिए बँधकर, आज अपने जीवन में घोर आत्म-प्रवञ्चना, दर्द-भरी टीस तथा असफल प्रेम के हृदय-तोड़ परिणाम भुगत रही होंगी।

"पुरुष सौन्दर्य-मद में आकर अनेक कोमल प्रसूनहृदया समर्पित नारियों के सर्वस्व समर्पण को ठुकरा देता है। यदि ऐसे पुरुष की समर्पित अभिलाषाओं पर मैं प्रहार करूँ ?"

चन्द्रहासिनी नारित्व का गर्व बनकर विजयश्रवा के सम्पूर्ण आकर्षण को पी गई। चुपचाप। जरा भी उकार नहीं।

विजयश्रवा चाहता था कि मणि-माला के खोजने में उसकी सहायता अवश्य स्वीकार की जावे; किन्तु चन्द्रहासिनी अनपेक्षित-सी, विजयश्रवा के रूप-मद से अपराजित-सी उस ओर बढ़ी जहाँ उसकी प्रिय सखी दोनों सारथियों के साथ मणि-माला के खोजने का प्रयास कर रही थी।

चन्द्रहासिनी को सखी की ओर जाते देखकर, विजयश्रवा ने भी उसीके पद-चिन्हों का अनुसरण किया। चन्द्रहासिनी का मस्तक विजय-गर्व से उन्नत हो उठा। वह आगे-आगे चली और उसके कुछ अंतर पर विजयश्रवा।

विजयश्रवा चाहता था कि इस अचानक प्राप्त हुए अवसर का अनुकूल लाभ उठाया जावे। उसने पीछे चलते हुए कहा—

"इन्द्रप्रस्थनगर की राजपुत्री को धारानगरी के युवराज का अभिवादन स्वीकार करना होगा।"

चन्द्रहासिनी ने विजयश्रवा की बात सुनी, किन्तु वह मन ही मन प्रसन्न होती हुई आगे बढ़ती गई।

विजयश्रवा को यह मौन अखरा। उसने मुस्कुराते हुए

पुन: बाधा दी और बोला—"यह तो आमंत्रित अतिथि का सबसे बड़ा अपमान है ! राजकुमारी ! अभिवादन स्वीकार हो !"

इस बार चन्द्रहासिनी तनिक-सी ठिठककर अपने स्थान पर खड़ी हो गई। सारथीगण तथा सखी अब भी राज-मार्ग पर झुके हुए मणि-माला खोज लाने के प्रयास में लगे हुए थे।

विजयश्रवा बढ़कर चन्द्रहासिनी के बराबर आगया।

अब चन्द्रहासिनी ने युगुल कमल-करों को जोड़कर विजय-श्रवा को अभिवादन किया।

दोनों ने एक दूसरे को—अति समीप से—मनोमोहक दृष्टि से देखा—भीतर ही भीतर एक दूसरे के प्रति समर्पण की भावना का उदय हुआ। दोनों ने अपनी अन्तरात्मा को साक्षी बनाकर हृदय की गोपनीय भावनाओं को स्पष्ट कर दिया। वाणी मौन थी, किन्तु नेत्र-दृष्टि अन्तरतम की अभिव्यक्तियों को प्रकट कर रही थी।

रूप का देवता, अपनी अतृप्त दर्शन-लालसा को रूप की देवी के समक्ष, नयनों द्वारा व्यक्त करके, मानो एकान्त-विभावरी के चन्द्र-तारक नेत्रों को साक्षी बनाकर मूक-वाणी में कह रहा था कि—मिलन की ये अमूल्य एकांत घड़ियां वरदायिनी सिद्ध हों।

चन्द्रहासिनी ने शिष्टाचार प्रदर्शन करते हुए कहा—"भावी सम्राट ! हमें क्षमा करें !"

—"क्यों किसलिए राजकुमारी ? मुझे तो अपराध का ही ज्ञान नहीं ! फिर क्षमा कैसी ?"

धीरे-धीरे राजकुमारी ने लज्जा के अवगुण्ठन ढीले कर दिये। स्वयं राजकुमारी की अन्तर्प्रेरक शक्तियाँ उसे हृदय खोल कर जीवन-अतिथि की अभ्यर्थना एवं पूजा करने के लिए विवश करने लगीं।

जब सखी ने देखा कि राजकुमार विजयश्रवा उसकी राजकुमारी के समीप खड़ा है, तब वह सारथीगण के साथ और आगे बढ़ गई।

विजयश्रवा ने प्रेयसी के चन्द्र-मुख पर अपनी चकोर दृष्टि गड़ा दी। चन्द्रहासिनी ने विजयश्रवा की दृष्टि में अनन्त प्रेम-सागर को शोषण करनेवाली अगस्त्य की वह तृष्णा देखी, जिसे जानकर वह मन ही मन मुस्कुरा पड़ी।

लज्जित मुखड़े में दौड़नेवाली अरुणाई, चन्द्र-ज्योत्स्ना के संयोग से गुलाब की पँखुड़ियों की भाँति अङ्कित थी। अपलक नेत्रों के पाँवड़े बिछाये थे। रूप का देवता-सा जीवन-अतिथि प्यासी आँखों में दर्शन बनकर छाता जा रहा था। चन्द्रहासिनी मृग-शावक-से चञ्चल नेत्रों को नचाकर स्थिर दृष्टि से रूप के सागर में निमग्न होती जारही थी।

विजयश्रवा ने मौन भङ्ग किया—"राजकुमारी का मणि-माल कब गिरा था और कैसे?"

—"मुझे स्वयं कुछ ज्ञात नहीं, देव! वह तो मेरी सखी थी, जिसने खो जाने की चर्चा चलाई!"

—"क्यों! राजकुमारी को यह तो अवश्य ज्ञात होगा कि कब और किस समय और किस अपराध पर मणि-माल को हृदय के पास से दूर कर दिया?"

—"देव ! न तो मैंने उस मणि-माल को हृदय के पास ही रखा था और न मैंने दूर किया। वास्तव में जब सन्ध्या समय सूचना मिली कि भारत के भावी सम्राट के स्वागत में सारा रनवास जायगा और सामन्त, सरदार, अमात्य एवं प्रजावर्ग के साथ-साथ स्वयं महाराज भी उपस्थित रहेंगे और एक महान् राजसभा का आयोजन होगा उसी समय मेरी सखी ने मुझे वह मणि-माल पहनाते हुए कहा था—"जो इन अमूल्य प्रेम की थाती मणियों की माला के द्वारा अपना हृदय-प्रदेश विभूषित करेगी, वह महान् आकर्षण की केन्द्र-बिन्दु बन जायगी—वह प्रत्येक नेत्रों की प्रिय अतिथि बनेगी और वह साम्राज्ञी भी.......................... !

लज्जा से एक बार पुनः चन्द्रहासिनी का मुख विवर्ण हो गया। अर्द्ध-रात्रि की सुहावनी चन्द्रिका में—कलियों के लजीले अवगुण्ठन जैसे अपने सौन्दर्य के झीने पट से लज्जा के आवरण को अपने चारों ओर लपेटकर, घूंघट में चाँद छिपाये हुए राजकुमारी विहँस पड़ी।

राजकुमार ने प्रथमबार जीवन में अनुभवी प्रेमिक की भाँति चन्द्रहासिनी के सुचारु हास्य पर मन ही मन अपने आपको न्यौछावर कर दिया।

किन्तु दूसरे ही क्षण प्रेम के अन्तर्द्वन्द्व की एक कलङ्क जैसी विषाक्त भावना उसके हृदयोदधि में विक्षुब्ध एवं कुपित-सी हिलकोरे मारने लगी।

अन्तर ने अपने आप ही प्रश्न किया—"क्या यह समर्पण भी क्षणिक है ? भुवन-मोहिनी के निर्वासन के पश्चात्, भू-गर्भ

से उठनेवाले ज्वालामुखी के उद्गार की भाँति जो प्रबल प्रेमाग्नि-दाह उत्पन्न हुआ था, जिसने रत्न-किरीट से सुसज्जित राज-सिंहासन के उत्तरदायित्व को ठुकराकर पग-पग की ठोकरें खाते हुए भी, प्रेयसी की खोज में नैराश्य एवं असाफल्य को कभी स्वीकार नहीं किया, क्या वह सब किसी पागल का अचेतन व्यवहार-मात्र था अथवा चन्द्रहासिनी की रूप-ज्वाला ने उस पूर्व प्रेम की अन्तर-अभिलाषाओं को भस्म करके उसके सम्पूर्ण प्रेमोत्सर्ग की भावना को ही विकृत कर डाला है ?"

"वह भुवन-मोहिनी को प्यार करेगा अथवा चन्द्रहासिनी को ?"

"क्या वह सौन्दर्य के दो अगाध समुद्र को एकसाथ ही मन्थन कर सकेगा ? क्या उस मन्थन के परिणामस्वरूप निकले हुए दो चन्द्र-मुखों को एकसाथ ही प्यार कर सकेगा ? क्या दोनों चन्द्र-मुखों की तुलना करने पर एक को कलङ्की तथा दूसरे को निष्कलङ्क समझकर अन्त में वह भुवन-मोहिनी के सम्पूर्ण प्रेम को मतवाले हाथी की भाँति कुचल देगा ? क्या वह आध्यात्मिक ढंग का प्रेमी है अथवा रूप की वारुणी ने उसे हतप्रभ कर डाला है ? जीवन-सरिता के युगुल तटों पर खड़ी हुई दो मनोहर अलबेलियाँ, क्या सुख-दुख, जय-पराजय अथवा प्रेम और घृणा की भाँति उसकी द्वैत भावना को विनष्ट कर कोई एक उसे अपने आकर्षण केन्द्र-बिन्दु तक खींच ले जावेगी तब............तब............दूसरी का क्या होगा ?"

एक ही क्षण में चल-चित्र की भाँति उक्त भावनाएँ विजयश्रवा के अन्तर को विक्षुब्ध कर उठीं।

चन्द्रहासिनी ने उस क्षणिक मौन को भङ्ग कर दिया ! जैसे वह विजयश्रवा के अन्तर में पैठकर एक सफल गोताखोर की भाँति, भावनाओं के रत्नों और कङ्कड़ों को अलग-अलग पहचान गई हो।

—"क्या भावी सम्राट मुझपर सदय होकर मुझे एक-दो प्रश्न करने का अधिकार प्रदान करेंगे ?"

—"अवश्य राजकुमारी !" सचेत होते हुए विजयश्रवा बोल उठा।

चन्द्रहासिनी स्वीकृति पाकर भी चुप ही रही।

—"राजकुमारी ! निःसङ्कोच होकर प्रश्न करें।" कुछ उद्विग्न होकर विजयश्रवा बोला।

—"मुझे भय है कि मेरा प्रश्न कहीं भावी सम्राट को न रुचे और मुझे कोप-भाजन बनना पड़े।"

—"नहीं-नहीं, शंकाओं का समाधान करना आवश्यक है।"

चन्द्रहासिनी के होठ एकबार अस्फुट स्वरों में कांप उठे, किन्तु दूसरे ही क्षण वह बोली—"मुझे संदेह है कि आज की राजसभा में भावी सम्राट को मनोरञ्जन के स्थान पर मनोवेदना को स्वीकार करना पड़ा है।"

—"कैसे" नग्न सत्य को दुरूह बनाने की चेष्टा करते हुए विजयश्रवा ने प्रत्युत्तर दिया।

—"मैंने स्वयं अपने नेत्रों से देखा कि जिस प्रकार भुवनमोहिनी की सङ्गीत-लहरी में अतीत के वेदनापूर्ण संस्मरणों को भावात्मक ढंग से नृत्य के द्वारा व्यक्त किया जा रहा था, उसपर युवराज के गम्भीर मनोभावों की ओट से एक प्रच्छन्न

प्रेम-कथा की निराश भाव-भङ्गिमा व्यक्त होती थी। क्या मैं जान सकती हूं कि वह कौन-सी भाग्यशालिनी रमणी है, जिसने भारत के भावी सम्राट के हृदय पर वियोग, टीस एवं जलन के बीज बोये हैं ?"

वास्तव में विजयश्रवा राजकुमारी के द्वारा ऐसे प्रश्न किये जाने की कल्पना भी न कर सका था और जिस तथ्य को बड़े-बड़े मनोवैज्ञानिक राजकुमार के सम्मुख बैठकर भी न समझ सके थे उसी प्रश्न को परदे की ओट में छिपी रहकर पूछने-वाली एक नवोढ़ा नारी थी जिसने सम्भवतः राजकुमार तथा उसके आन्तरिक मनोभावों को आज से पूर्व न कभी जाना था, न चर्चा होने पर सुना ही था ! फिर भी राजकुमारी का प्रश्न सत्य था !

विजयश्रवा कुछ निश्चय न कर सका कि वह क्या उत्तर दे। इसके पूर्व ही चन्द्रहासिनी बोल उठी—"यदि मेरे प्रश्न ने भावी सम्राट को विचलित कर दिया हो तो मैं क्षमा-याचना करते हुए अपना प्रश्न लौटा लेती हूं !

—"नहीं, राजकुमारी ! प्रश्न तो सामयिक और उचित भी है; किन्तु प्रत्येक नर-नारी के जीवन में एक ऐसा क्षण अवश्य उपस्थित होता है, जब वह अपना सर्वस्व एक दूसरे के लिए समर्पित करते हैं। किन्तु राजकुमारी ! प्रेम की गोपनीयता में जो शान्ति और सन्तोष प्राप्त होता है वह प्रकाशन के द्वारा नहीं। प्रकाशन करने पर प्रेम तुच्छ और स्वार्थपूर्ण ज्ञात होता है। अस्तु। आपका प्रश्न सहज एवं सत्य होते हुए भी, प्रथम परिचय में ही मेरे जीवन की अनेक गोपनीय तथ्यों से भरी

कहानी को नहीं प्रकट करा सकता।

चन्द्रहासिनी को ऐसे ही उत्तर की सम्भावना थी। अस्तु, उसने बहुत-कुछ जानकर भी इस प्रश्न को जहाँ का तहाँ छोड़ दिया और वह स्वयं राजकुमार द्वारा किसी प्रश्न के पूछे जाने की प्रतीक्षा करने लगी।

सचमुच विजयश्रवा भी कुछ पूछने को प्रस्तुत-सा ही था। अस्तु, कुछ क्षणों तक अपलक चन्द्रहासिनी की रूप-शिखा पर मन-पतिंगे की तरह मंडराता रहा और सहसा कह उठा—

"राजकुमारी! आज की रात कितनी रम्य और परस्पर परिचय की मधुर भावना से सलोनी प्रतीत हो रही है! कम से कम गिनती के ये थोड़े-से क्षण मेरे जीवन में अमूल्य संस्मरणों के प्रतीक बनेंगे और अप्रत्याशित मिलन का यह मधुर क्षण भुलाया न जा सकेगा।"

—"यही तो मैं भी सोचती हूँ, किन्तु..................."

—"किन्तु क्या?"

—"यही की पुरुष मधुप-हृदय न जाने कितनी बार ऐसे मधुर मिलन को भूलते हुए पाए गये हैं।"

—"यह तो अपवाद-मात्र है, राजकुमारी! कोई निश्चित सिद्धांत नहीं।

चन्द्रहासिनी विजयश्रवा के अन्तर को कुरेदकर उसकी दृढ़ता को परखना चाहती थी, अस्तु। उसने अतीव सम्मोहक स्मित-दृष्टि से विजयश्रवा की रूप-माधुरी को पलकों की ओट में छिपाकर देखना प्रारम्भ किया और धीरे-धीरे दोनों उस शून्य राज-मार्ग पर पाँव बढ़ाते गये।

कुछ चिंतित मुद्रा में विजयश्रवा बोला—"ज्ञात होता है कि राजकुमारी का वह मूल्यवान हृदय-हार सचमुच खो गया है क्योंकि सखी और सारथी दोनों ही आगे बढ़ते जारहे हैं।"

—'हाँ भावी सम्राट ! यही तो मैं भी सोचती हूँ कि हृदय-हार जैसी अमूल्य वस्तु एकबार खोजाने पर पुनः प्राप्त नहीं होती।"

एक क्षण ठिठक कर चन्द्रहासिनी पुनः विजयश्रवा का दर्शन-सुख प्राप्त करती रही और विजयश्रवा तुरन्त अपना मणि-जटित हार उतारकर एक क्षण उसे हाथ में लिये हुए कुछ सोचता रहा; किन्तु दूसरे ही क्षण बिना झिझक अपना हार चन्द्रहासिनी के गले में पहना दिया।

इससे दोनों ने एक दूसरे के स्पर्श-सुख का जो अननुभूत व्यापार और आदान-प्रदान का सन्देश दिया, वह एक मूल्यवान प्रेम की धरोहर बनकर उन दोनों की मधुर भावनाओं में छा गया।

चन्द्रहासिनी मौन लज्जित वाणी में इस अमूल्य पुरस्कार के लिए कृतज्ञता भी प्रदर्शित न कर सकी; किन्तु समर्पण की अनन्य प्रतिमा नारी का दैवी स्वरूप उद्भासित हो उठा।

वह अपने प्रियतम अतिथि द्वारा पुरस्कृत होकर एक ही बार अनन्य भावना से कृतकृत्य हो उठी। वाणी मौन थी, जीवन अचञ्चल।

सहसा चन्द्रहासिनी के कोमल कर-पल्लवों ने विजयश्रवा का हाथ पकड़ लिया। दोनों अननुभूत सुख-शांति की गोद में अपनत्व भूल गये।

चन्द्रहासिनी ने विजयश्रवा की कनिष्ठिका उँगली में अमूल्य रत्न-जड़ित अँगूठी पहनाकर मानो अपनी ओर से भी प्रेमोपहार समर्पित कर दिया ।

दोनों एक दूसरे की दृष्टि-पथ द्वारा अन्तर में पैठकर मानो एकाकार होगये ।

सहसा सखी और सारथी लौटते हुए दिखाई पड़े ।

विजयश्रवा और चन्द्रहासिनी दोनों ने मुड़कर रथ की ओर प्रयाण किया ।

दोनों मौन थे—दोनों के पावों में एक विचित्र आत्म-विस्मृत होनेवाली मन्थर गति थी। दोनों क्षणभर पूर्व के अपरिचित मानो युग-युगांतर के पुराने जाने-पहचाने साथी बन चुके थे ।

सखी सारथी को साथ लिये हुए कुछ ही क्षणों में इनसे आगे बढ़ गई और एकाएक रथ के पहिये के समीप जाकर खोये हुए राजकुमारी के हृदय-हार को सखी ने उठा लिया और आनन्दोल्लास के साथ चिल्ला पड़ी—"मुझे पुरस्कार चाहिए ! मैंने राजकुमारी का हृदय-हार खोज लिया।"

विजयश्रवा और चन्द्रहासिनी भी इस प्रकार सखी के चमत्कारपूर्ण खोज से प्रभावित होकर शीघ्रतापूर्ण पाँव बढ़ाते हुए रथ के पास आगये।

विजयश्रवा को खोये हुए हार के प्राप्त होने से अतीव प्रसन्नता हुई, किंतु चन्द्रहासिनी तो राजकुमार द्वारा पुरस्कृत होकर मानो त्रैलोक्य की सम्पूर्ण सम्पदा प्राप्त कर चुकी थी। वह नाम-मात्र के लिए भूमि पर चल रही थी। वास्तविकता

तो केवल यही थी कि वह वायु के पंखों में उड़ती हुई कल्पना के सुखद् लोक में विचरण कर रही थी। उसे स्वर्ग-सुख का भी मोह न रह गया था।

विजयश्रवा ने सखी को पुरस्कृत करने का वचन देकर चन्द्रहासिनी से रथारूढ़ होजाने का आग्रह किया और स्वयं अपने रथ में जाकर बैठ गया।

चन्द्रहासिनी अन्तर्बाह्य से उत्फुल्ल-मना होकर, पुनः अपने रथ में जाकर आसीन हो गई।

चन्द्रहासिनी और विजयश्रवा ने एक दूसरे को दृष्टिभर देखा। दृष्टि के द्वारा ही अन्तर का सम्पूर्ण अनुराग एक दूसरे के जीवन में उँड़ेलते हुए दोनों ने एक दूसरे को अभिवादन किया और दोनों के रथ एक दूसरे के पीछे चल पड़े।

कुछ दूर आगे चलकर विजयश्रवा का रथ राजकीय उद्यान की ओर मुड़ा, जहाँ कि वह इन्द्रप्रस्थ नरेश का अतिथि बनकर निवास कर रहा था और चन्द्रहासिनी राज-प्रासाद के अन्तःपुर की ओर मुड़ी।

विलग होते समय सखी ने विजयश्रवा से पुनः दर्शन देने का अनुरोध प्रकट किया।

और विजयश्रवा तो स्वयं राजकुमारी के राजोद्यान में आने की बात कहकर विलग हुआ।

× × × ×

चन्द्रहासिनी दीपक-रागिनी सिद्ध कर चुकी थी। माँ सरस्वती का विशुभ्र वरदान चन्द्रहासिनी के लिए वरद् होने के साथ ही साथ लौकिक, पारलौकिक सिद्धियों का द्वार खोल

चुका था। चन्द्रहासिनी के लिए भुवन-मोहिनी सिद्धिदात्री बन चुकी थी। एक ओर तो भुवन-मोहिनी द्वारा चन्द्रहासिनी को उच्च कोटि की सङ्गीत शिक्षा प्राप्त हो चुकी थी, दूसरी ओर भुवन-मोहिनी की खोज में आकर विजयश्रवा ने अपना प्रेमार्घ्य चन्द्रहासिनी को प्रदान कर डाला था।

भुवन-मोहिनी को प्रेम-पथ पर पग बढ़ाने के अपराध में जहाँ एक ओर निर्वासन स्वीकार करना पड़ा था, वहीं दूसरी ओर वह अपने प्रेम-देवता को भी खोने जारही थी। चन्द्र-हासिनी अपने गर्वभरे पद की महत्ता एवं रूप की चकाचौंध से भुवन-मोहिनी का सर्वस्व छीन लेने पर तुल चुकी थी। अवश्य ही भुवन-मोहिनी के कर्णरंध्रों में उस दिन की बात आज भी गूंज रही थी जिस दिन प्रेम करने के दण्ड एवं अभि-शापस्वरूप उसे धारानगरी का परित्याग करना पड़ा था और उसके प्रेम का देवता अश्रु-सिक्त नयनों से अपनी प्रेयसी के आँचल में कुछ अश्रु-बिंदु ढुलकाकर बोला था—"जाओ प्रियतमे! प्रतीक्षा करना! एक दिन तुम्हारा राजकुमार यही रथ लेकर तुम्हें बुलाने अवश्य आवेगा!"

बस, उस दिन से भुवन-मोहिनी अवश्य ही विजयश्रवा की प्रतीक्षा करने लगी थी। वह इन्द्रप्रस्थ आकर महाराज आदित्यसेन की राजसभा में उसी राज-सम्मान द्वारा विभूषित की गई थी, जो राज-संम्मान वह सम्राट द्युमत्सेन द्वारा प्राप्त कर चुकी थी।

भुवन-मोहिनी अवश्य ही एक नर्तकी की कन्या थी; किन्तु वह अपनी अनिन्द्य सुन्दरी माता के स्वरूप की प्रतिनिधि बन-

कर ही धराधाम पर अवतरित हुई थी। अपने समय में योगीयों की योग-सिद्धि की भाँति ही उसकी माता ने घोर तपस्या एवं अथक उद्योग के प्रभाव से संगीत की 'देवी माँ सरस्वती' से समस्त राग-रागिनियों की सिद्धी प्राप्त कर चुकी थी और वह बड़े-बड़े सम्राटों की राजसभाओं में द्वीप-द्वीपान्तरों तक पहुँची थी।

जिस प्रकार भुवन-मोहिनी की माता ने अनिन्द्य सुन्दरी होकर भी धन-कुबेरों एवं महान् सामन्तों के कलुषित वासना-युक्त प्रेम को ठुकराकर, कामोपभोग की मूर्त्ति बनना अस्वीकार किया था और अन्त में एक महान् ज्ञानी के चरणों में बैठकर उसने पातिव्रत को स्वीकार किया था, उसी प्रकार आज भुवन-मोहिनी ने भी अपार रूप की प्रज्ज्वलित शिखा-कांति को अपने चारों ओर बिखेरे हुए, कामी कुत्तों की प्रणयिनी बनना अस्वीकार कर दिया था और जिस तरह उसकी माता को अपनी शारीरिक पवित्रता एवं पातिव्रत के लिए सम्राट की कोपाग्नि में अपने जीवन को स्वाहा करना पड़ा था, उसी आदर्श पर मर मिटने के लिए भुवन-मोहिनी भी अपने प्राण हथेली पर लिये हुए अपने जीवन को उत्सर्ग करने के लिए प्रतिक्षण तत्पर रहती थी।

वह सामन्ती वैभव का युग था, जहाँ भुवन-मोहिनी जैसी नर्त्तकी नारी के लिए दो ही मार्ग थे। प्रथम या तो वह विलासी धन-कुबेरों अथवा क्रूर सामन्तों की वासना-तुष्टि का साधन बने अथवा द्वितीय परिणामस्वरूप अपने जीवन को जीवित ही अग्नि-कुण्डों में स्वाहा करदे। इसका एक ही अर्थ

था पतिता बनना या फिर आत्मोत्सर्ग करना।

माता की भाँति भुवन-मोहिनी भी पतिता न बनकर आत्मोत्सर्ग करने में ही सन्तुष्ट थी। सम्राट द्यु मत्सेन की कोपाग्नि में भस्म होते उसे देर न लगती क्योंकि वे स्वयं भुवन-मोहिनी पर छिपे रूप से अनुरक्त थे; किन्तु सम्राट द्यु मत्सेन भली-भाँति जानते थे कि उनका उत्तराधिकारी विजय-श्रवा भुवन-मोहिनी के सर्वनाश पर चुप न रहेगा। या तो वह भुवन-मोहिनी के साथ किये गये अत्याचार का बीभत्स बदला लेने पर तुल जायगा अथवा भुवन-मोहिनी के साथ ही अपने जीवन का भी अन्त कर डालेगा। दूसरे सम्राट द्यु मत्सेन के कारण ही उसकी माता ने उनकी अङ्कशायिनी बनने के स्थान पर अकाल मृत्यु स्वीकार करना अपना अहोभाग्य माना था। इस भय से विचलित होकर ही सम्राट द्यु मत्सेन ने भुवन-मोहिनी को निर्वासित किया था।

यदि कहीं सम्राट द्यु मत्सेन को यह ज्ञात होता कि अकेले भुवन-मोहिनी भर ही विजयश्रवा पर जान देती है और विजयश्रवा को भुवन-मोहिनी की किञ्चित-मात्र आवश्यकता नहीं; तब तो निश्चय ही उसे प्राण-दण्ड स्वीकार करना पड़ता या सम्राट द्यु मत्सेन कीवा सना-तुष्टि के लिए उसे अपने शरीर को समर्पण करना पड़ता। किन्तु सम्राट द्यु मत्सेन भली-भाँति जानते थे कि वह भी अपनी माता के समान ही रूपवती होकर भी पतिव्रता नारी की भांति पवित्र है। यद्यपि वह नृत्य एवं संगीत की मनोहारी कला के प्रदर्शन-मात्र के लिए ही समाज की आवश्यकता बन गई है, किन्तु वह किसी भी मूल्य

पर अपना शरीर अथवा सौन्दर्य नहीं बेचना चाहती। अस्तु।

कहां तो चन्द्रहासिनी उसकी शिष्या बनी थी और उसी के शिक्षण ने दीपक-रागिनी भी सिद्ध करवाई थी; चाहिए तो यह था कि राजकुमारी आजीवन उसके प्रति कृतज्ञ बनी रहती, भले ही सामाजिक स्थिति में राजकुमारी का पद गौरवप्रद होता; किन्तु बात बिलकुल विपरीत होने जारही थी। चन्द्रहासिनी जानते-समझते हुए भी कि विजयश्रवा वास्तव में भुवन-मोहिनी को प्यार करता है और वह उसके लिए सम्राट का राज-सिंहासन भी परित्याग करने पर कटिबद्ध है, फिर भी चन्द्र-हासिनी अधिकार एवं शक्ति के बल पर भुवन-मोहिनी को विजयश्रवा की प्रणयिनी न बनने देगी। आवश्यकता पड़ने पर चन्द्रहासिनी उसके प्राणों की ग्राहक बनेगी और धराधाम से उसके अस्तित्व को ही समाप्त करदेगी।

भुवन-मोहिनी भी इस अत्याचार के प्रति अनभिज्ञ नहीं थी। आज जब वह चन्द्रहासिनी से मिलने राजप्रासाद में पहुँची तो उसने देखा कि राजकुमारी के वक्ष:स्थल को विजय-श्रवा का हृदय-हार चूम रहा है। जिस अमूल्य मणि-माल को एक दिन उसे विजयश्रवा भेंट करना चाहता था और जिस प्रेमोपहार को क्षणभर के लिए अपने प्रीतम द्वारा उसने स्वीकार किया था, अपना वक्ष:स्थल सजाकर प्रियतम के दृढ़ बाहु-पाश में आबद्ध हुई थी और जब उसके प्रेम-देवता ने उस मणि-माल को उसके वक्ष:स्थल में सजा हुआ देखा था, तब वह अनुरक्त स्वर में कह उठा था—"प्रियतमे! मेरे इस उपहार को कभी अपने वक्ष:स्थल से क्षणभर के लिए भी दूर न करना, अन्यथा

मेरे प्रेम-सिक्त हृदय को बड़ी पीड़ा पहुँचेगी और मैं समझूँगा कि मेरे मणि-माल को अपने हृदय से दूर करके मेरी सबसे बड़ी उपेक्षा की है।"

उस समय अपने प्रियतम की उस अमूल्य भेंट द्वारा अपना हृदय-प्रदेश सजाकर वह बोली थी—"देव! आपके द्वारा प्रदान किये गये मणि-माल को मैंने स्वीकार तो करलिया, किन्तु इस मणि-माल की शोभा मुझ जैसी क्षुद्र नर्त्तकी के हृदय-प्रदेश को विभूषित करने में घट जायगी। यदि आप मेरी प्रार्थना मानें तो मुझे इस मणि-माल को आपके ही वक्ष:स्थल में सुशोभित देखने में सुख प्राप्त होगा। क्या मेरी इस कामना को मेरे देवता अपूर्ण करेंगे? मैं आपको ही समर्पित करती हूँ।"

भुवन-मोहिनी के महान् प्रयास और आग्रह करने पर विजयश्रवा ने उस मणि-माल इस शर्त्त पर स्वीकार किया था कि यदि तुम्हें मेरे हृदय-प्रदेश पर अलंकृत देखने से सुख मिलता है, तब मैं तुम्हारा उपहार समझकर स्वीकार करूंगा अन्यथा इसपर मेरा अपना न कोई अधिकार है और न कोई स्वामित्व!"

और तब भुवन-मोहिनी ने अपनी ओर से कई अमूल्य मणि और पिरो दिये थे और तब पुनः उसने विजयश्रवा को समर्पित किया था। ठीक उसी दिन से विजयश्रवा उसे निरंतर धारण करता हुआ चला आया था।

आज जब भुवन-मोहिनी ने मणि-माल को चन्द्रहासिनी के वक्ष:स्थल पर अलंकृत देखा तो उसके हृदय में एक बड़ी टीस एवं

अन्तर्वेदना उत्पन्न होगई। उसने क्षणभर के लिए चन्द्रहासिनी को ईर्ष्यालु दृष्टि से देखा और उसके अंतःकरण ने कहा—"आज राजकुमारी उसके उच्छिष्ट प्रेम एवं अलङ्कार को स्वीकार कर कितनी मानिनी बन गई है। वह आज उसके हृदयेश्वर पर उसी के सामने अधिकार करने पर तुली हुई है! आह! अकृतज्ञ राजकुमारी!

वह उसके प्रेम-नीड़ पर बैठकर उसे पंखहीन पक्षी बना रही है, जिसका न कोई घोंसला होगा और न वह प्रेम के अनन्त पंख लगाकर उन्मुक्त प्रेमाकाश में विचरण ही कर पावेगी। राजकुमारी उसके स्नेहमयी जीवन के शक्तिदात्री पंखों को नष्टकर उसे पंगु बना देगी और उसका सर्वस्व छीनकर सर्वनाश कर डालेगी। आज चन्द्रहासिनी गौरवपूर्ण हास्य में उसकी उपेक्षा-सी करती हुई कह उठी—"भुवन-मोहिनी आज तुम्हारा मुख मलिन क्यों है?"

—"नहीं तो!" उसने उन्मुक्त हास्य करते हुए अपनी उभरनेवाली भावनाएँ छिपा लीं।

—"तो फिर मुझे भ्रम है।" राजकुमारी ने कहा।

—"हो सकता है!" मर्म-भेदी दृष्टि से देखते हुए भुवन-मोहिनी बोली।

—"क्या तुमसे भावी सम्राट से कोई एकान्त मिलन हुआ?"

—"क्यों होवे। कहाँ भावी सम्राट! कहाँ भ्रष्ट, दलित एक क्षुद्र नर्त्तकी।"

—"नहीं तो, ऐसी बातें न कहो, सखी!"

—"क्यों"

—"राजकुमार तुम्हारे अनन्य उपासक हैं।"

—"कौन कहता है ?"

—"मैं !"

—"इसका प्रमाण !"

—"उनके एकांत पर्णकुटी में लगा हुआ तुम्हारा महान् चित्र है जिसे स्वयं राजकुमार ने अपनी तूलिका से चित्रित किया है।"

—"यह झूठी बात राजकुमारी से किसने कही ?"

—मैंने स्वयं उनकी पर्णशाला में तुम्हारे सौन्दर्य-सौष्ठव का वह महान् चित्र --राजकुमार की महान् कृति--अपनी आँखों देखा।"

—"तो क्या राजकुमारी से भावी सम्राट का एकांत मिलन संभव हो सका ?"

—"नहीं, मैं उनकी शून्य पर्णशाला में उस समय पहुँची जब राजकुमार रथारूढ़ होकर पर्यटन करने निकले थे !"

भुवन-मोहिनी क्षणभर के लिए अवाक् रह गई और वह राजकुमारी को विस्मृत दृष्टि से देखती रही; फिर भी वह अपने जीवन के जिस गोपनीय तथ्य को आज तक छिपाती आई थी, आज उसे एकाएक ज्ञात हुआ जैसे वह चन्द्रहासिनी की सतर्क दृष्टि से अपने प्रेम-व्यापार को अधिक समय तक छिपा न सकेगी।

फिर भी भुवन-मोहिनी बातों के क्रम में सन्देहयुक्त भावनाएँ उत्पन्न कर चन्द्रहासिनी को वास्तविकता से परे रखना चाहती

थी। उसने कुछ बनते हुए कहा—"प्यारी राजकुमारी! क्या यह सच है कि राजकुमार विजयश्रवा के एकान्त वास-स्थल में मेरा चित्र दिखलाई पड़ा है?"

—"हाँ, हाँ, सखी! बिल्कुल सच है। मेरे नेत्र तुम्हारे चित्र को प्रथम दृष्टि में ही पहचान गये थे, किंतु मुझे आश्चर्य-सा लग रहा है कि इस सूचना में ऐसी कौन-सी बात है जिसने तुम्हें उद्विग्न कर दिया है?"

—"बात तो सचमुच कुछ भी नहीं है और न किसी प्रकार की उद्विग्नता ही है। हाँ, कुतूहल इस बात का अवश्य है कि इतने महान् व्यक्ति को मुझ तुच्छ नारी का चित्र रखने की कैसी लालसा उत्पन्न हुई?"

—"क्यों! तुम सदा अपने को तुच्छ क्यों समझती हो? क्या तुम वास्तव में इतनी भोली हो कि अपने सौन्दर्य से स्वयं अपरिचित हो? कम से कम मुझे तो विश्वास नहीं होता, भुवन-मोहिनी! तुम्हें ज्ञात होना चाहिए कि तुम्हारे सौन्दर्य में अद्भुत आकर्षण है। जब स्त्री जाति तुम्हारा अनन्य स्वरूप दर्शन करके अपने को धन्य मान लेती है, तब विजयश्रवा तुम्हारे स्वरूप पर क्यों न पसीजें? माना कि वे भावी सम्राट हैं। सत्ता, अधिकार, वैभव एवं राजलक्ष्मी उनकी चेरी है; किंतु वे पुरुष-हृदय को कहाँ फेंकदें? जब स्त्री जाति तुम पर अनुरक्त है, तब तुम्हें निश्चयपूर्वक मान लेना चाहिए कि कोई भी पुरुष चाहे वह तुम पर किन्हीं कारणों से अनुरक्त न हो, किंतु रति-सा सुन्दर स्वरूप सहज ही उसे एकबार अवश्य आकर्षित करेगा। संभव है, अब तक जितनी नारियाँ राजकुमार की

दृष्टि से गुजरीं हों उनमें तुम्हीं सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी रही हो। संभव है, इसी कारण से राजकुमार ने तुम्हारा चित्र अङ्कित कर डाला हो !"

—"जो कुछ भी हो, किंतु एक महान् व्यक्ति के पास एक नर्त्तकी का चित्र कभी भी उचित नहीं कहा जा सकता।"

उल्लास से प्रथम बार चन्द्रहासिनी ने भुवन-मोहिनी को अपने युग-बाहु-पाश में भरकर अरुणारे कपोलों पर प्रेम-चिन्ह अङ्कित कर दिया और पुनः स्वयं सिहरती हुई चन्द्रहासिनी बोली—"रूप की जादूगरिनी ! तुझे ज्ञात नहीं कि तेरे मधुर-स्पर्श में अमूल्य आसव की-सी उत्तेजना एवं विस्मृति भरी पड़ी है। जब मुझे तेरी रूप-माधुरी का सुखद्-स्पर्श विस्मय-विमुग्ध एवं विह्वल कर देता है, तब धारा नगरी का राजकुमार क्यों न तेरी वासना से सिहरकर, तेरी मानसिक पूजा द्वारा चित्राङ्कित करे।"

—"बस, बस राजकुमारी ! बहुत न बनाओ। इन व्यर्थ की आडम्बरपूर्ण प्रशंसाओं से सम्राट-पुत्र नर्त्तकी का उपासक नहीं बन सकता। हाँ, यह कहो कि राजकुमार ने स्वयं अपनी प्रेयसी को खोज निकाला है और प्रथम प्रेमोपहार में ही तुम्हें कृतकृत्य कर दिया है। अब मैं साहसपूर्वक राजकुमार से निवेदन करूँगी कि राजकुमारी चन्द्रहासिनी मणि-माल के स्थान पर स्वयं राजकुमार को ही हृदय का हार बनाना चाह रही है।

चन्द्रहासिनी ने एक बार आकाश पर दृष्टि-भेदन करते हुए कहा—"सखी ! न जाने कौन हृदय से कह उठता है कि वे

मुझे अपना न सकेंगे।

चन्द्रहासिनी क्षणभर के लिए चुपचाप होगई। एक अप्रत्याशित सूनापन उसकी बड़ी-बड़ी आँखों में निराशा का सागर घहराकर लोप हो गया। वह किसी भावी अनिष्ट की आशंका से सिहर उठी।

भुवन-मोहिनी उस स्नेह-कातर दृष्टि को देखकर द्रवित हो उठी। वह तो चिर भुक्त-भोगिनी थी। उसने संयोग-वियोग के अनेक दृश्य देखे थे। वह उत्तप्त वियोग-वेदना की ज्वलनशील लपटों के हृदयालिङ्गन का चिर अनुभव अपने नन्हें से हृदय-पिण्ड को झुलसाकर प्राप्त कर चुकी थी। वह आतुर-जीवन की अनेक दुरभि-सन्धियों से भली-भाँति परिचित थी। वह उस युग की निराश प्रेमिकाओं की गौरवमयी प्रतिनिधिनी थी।

उसने स्नेह-सिक्त वाणी में कहा—"राजकुमारी! विजय-श्रवा को जीवन-धन बनाने में तुमने भूल की है। पता नहीं, कितना मूल्य चुकाना पड़े! शायद यह प्रेम-व्यापार प्राणों से भी महँगा सिद्ध हो। विजयश्रवा तुम्हें चाहकर भी न चाह सके। महान् दायित्वों के सम्मुख वह चाहे उपेक्षा कर जाये या उसे कुछ कहने-सुनने तक का अवकाश न मिले।"

भुवन-मोहिनी के स्पष्ट वाक्बाणों ने उस नवोढ़ा प्रेमिका का हृदय-पिण्ड भेदन कर दिया। वह छटपटाकर आँसुओं में बरस पड़ी। उसने द्रवीभूत होकर कहा—"सखी! मैंने तो उन्हें अति सरल एवं कोमल-हृदय प्राणी जानकर ही, प्रथम दर्शन में अपना सर्वस्व उनके चरणों में उत्सर्ग करने का व्रत ले लिया

है। इन नेत्रों पर अब कोई अधिकार न रहा। भारतीय नारी तो उत्सर्गमयी है। उसका प्रेम सर्वस्व-समर्पण रहा है। मैं इसी परम्परा का पालन करूँगी। भले ही जिन्हें मैंने फूल-सा कोमल समझा था वे प्रस्तर की भाँति कठोर निकलें, किंतु अब चारा ही क्या है?"

सदा ही खिलखिलाकर हँसनेवाली चन्द्रहासिनी एकाएक तरल द्रव-सी पिघल पड़ी। उसने भुवन-मोहिनी की गोद में अपना मुख छिपा लिया और पावसी मेघ-माला की भाँति उसके नेत्र बरस पड़े। वह बोली—"सखी! अब चाहे जैसे बीते, मुझे तो उनके प्रेम की अलख जगानी ही पड़ेगी! वे मुझे मन-भाये थे। मैंने उन्हें भोला-भाला समझा था। उनकी रूप-माधुरी में निष्ठुरता की छाया मैं न खोज पाई और न ही मैंने देखी कोई हृदय-हीनता! मुझे तो जैसे उनके नेत्रों ने एक मौन आमंत्रण दिया था। बस, मैंने उसे स्वीकार किया! मैं क्या जानती थी कि उनकी इस देवोपम सरलता के चारों ओर महान् दायित्व की कठोर शृङ्खला बँधी हुई है!"

भुवन-मोहिनी ने चन्द्रहासिनी को प्रथम बार अश्रु-पूरित दृष्टि में देखा। उसे ज्ञात हुआ कि वह भी उसी की भाँति विजयश्रवा के प्रेम का अभिशाप लेकर महान् छलनामय जीवन की एकान्त घड़ियों में हृदय के देवता को अश्रु-धारा से स्नान कराया करेगी। उसकी समग्र प्रेमोपासना निश्छल समर्पणमयी एवं निर्भ्रान्त होकर भी उसके जीवन में विडम्बनामय सिद्ध होगी।

चन्द्रहासिनी के अश्रुओं को अपने अञ्चल से सुखाकर

भुवन-मोहिनी बोली—"राजकुमारी ! विजयश्रवा के संबंध में सबकुछ जानती हुई भी मैं, उनके प्रेम से तुम्हें पराङ्मुख न कर सकी। मुझे जिन कडुवे परिणामों को प्रेम के नाम पर भोगना पड़ रहा है, संभवतः वह सब अग्नि की लपटों के दृढ़ालिङ्गन से कहीं अधिक है। जीवन में प्रलयङ्कर हाहाःकार है, सन्ताप है, बेबसी एवं रुदन है। किंतु......................"

वह आगे कुछ कहने ही जारही थी, सहसा एक दासी ने आकर निवेदन किया कि युवराज विजयश्रवा का भृत्य अरण्यक भुवन-मोहिनी को बुलाने आया है। उसे स्वयं राजकुमार ने बुलाया है।"

विजयश्रवा के धारा नगरी आने के पश्चात् यह प्रथम अवसर था, जब भुवन-मोहिनी एक आवश्यकता बनकर युवराज के मन में उपस्थित हुई थी। वह एक सफाई देता चाहता था। वह अपने को भुवन-मोहिनी से छिपा नहीं सकता था। विजयश्रवा अपने और चन्द्रहासिनी के बीच का संबंध भुवन-मोहिनी से स्पष्ट प्रकट करना चाहता था। उसे निश्चय था कि परस्पर अविश्वास, संदेह एवं दुराव समर्पणमय प्रेम के अभिशाप बन जाएँगे।

भुवन-मोहिनी राजकुमारी की आज्ञा प्राप्तकर अरण्यक के पास जाती; किंतु चन्द्रहासिनी ने अपनी सेविका को आदेश देते हुए कहा—"जा, तू उस भृत्य से जाकर कह दे कि अभी वह राजकुमारी के पास है। अवकाश पाते ही युवराज की सेवा में उपस्थित होगी।"

सेविका चली गई तब चन्द्रहासिनी ने गम्भीर भाव से

कहा—"सखी ! आज मैं तुमसे एक याचना कर रही हूं। क्षमा करो ! अपने अन्तर के इस भाव को हटा दो कि तुम एक साधारण नर्तकी हो और मैं राजपुत्री हूं ! मैं देख रही हूं कि तुम एक असाधारण नारी हो। मैंने तुम्हारी विनम्र शिष्या बनकर, तुमसे सङ्गीत का ज्ञान और उसकी सिद्धी प्राप्त की है। मैं धन्य हूं और तुम्हारी कृतज्ञ हूं।

भुवन-मोहिनी ने अधीर बनकर कहा—"राजकुमारी ! इन सब के लिए हमारे-तुम्हारे बीच में कृतज्ञता प्रदर्शन करने की कोई आश्यकता नहीं। विधि-विधान ने मुझे महाराज आदित्यसेन की शरण में ला पटका और उन्होंने साहसपूर्वक अभय-दान प्रदान किया, अन्यथा भारत सम्राट द्वारा निर्वासित किये जाने पर मुझे निश्चय होगया था कि मेरा समग्र जीवन विपत्तियों की गाथा बन जायगा। मेरी सहायता करने का कोई भी साहस न करेगा। महाराज ने मुझपर जो दया प्रकट की है, उसकी सराहना मैं किस मुख से करूँ !"

—"सखी ! यह भी तुम्हारी ही महानता है जो सर्वदा पिताजी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करती हो, अन्यथा राष्ट्र की कुशल एवं सर्वश्रेष्ठ गायिका होने के नाते तुम जहाँ कहीं जातीं, वहीं लुब्ध-मधुप की भाँति मानव-सागर तुम्हारे चन्द्र-मुख को देखकर उद्वेलित रहता। तुम्हें प्रत्येक स्थान में आदर एवं पुरस्कार प्राप्त होता !"

क्षणभर दोनों शून्य रहीं। विशेषकर भुवन-मोहिनी बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से चन्द्रहासिनी के मुख पर अङ्कित अति गंभीर एवं करुण भावों को देखती रही। चन्द्रहासिनी ने पुनः मौन भङ्ग

किया। वह बोली—"क्या तुम जानती हो कि युवराज के बुलाने पर भी मैंने तुम्हें क्यों रोक लिया ?"

—"नहीं।"

—"तो सुनो, सखी ! मैं तुमसे जो कहने जारही थी वह यह कि हम-तुम दोनों एक ही पथ की गामिनी हैं। मैं भली-भाँति समझ गई हूं कि युवराज तुम्हें सर्वान्तःकरण से प्यार करते हैं। जो कुछ अपनी ओर से वह तुम्हें प्रदान कर चुके हैं, उसे वे किसी मूल्य पर लौटा न सकेंगे और मैं स्वयं वही चाह रही हूं, जो तुम्हें युवराज से प्राप्त हो चुका है; किंतु मुझे वह प्रदान करने में युवराज को हिचक है। जानती हो, वह है क्या ? वह है प्रेम, जो एकबार में एक ही को प्रदान किया जा सकता है ! मैं समझती हूं कि युवराज द्वारा वह प्रेम तुम्हें प्राप्त होचुका है। यदि मुझे अपने प्रेम से युवराज पुरस्कृत भी करना चाहें तो वह एकबार समर्पित किया जा चुका है। अस्तु, भुवन-मोहिनी ! तुम जानती हो, क्योंकि तुम स्वयं एक नारी हो ! तुम्हें ज्ञात है कि नारी-हृदय रहस्य एवं गोपनीयता की परिधि के भीतर रहकर अपने निश्छल प्रेम की ज्योति जलाता है। वह अपना अन्तःकरण प्रकाशित करके प्रियतम की मधुमय मोहिनी मूर्त्ति अपने हृदय-मन्दिर में आसीन करता है। बड़ी गोपनीयता के साथ उस प्रेम-देवता की आराधना में लीन हो जाता है। कोई कुछ समझ नहीं पाता। बाह्य आवरण में नारी-हृदय ज्यों का त्यों कुतूहल-हीन रहता है, जैसे जो कुछ घटना या प्रेम-संबंध स्थापित हुआ है, वह उस नारी के अति-रिक्त किसी से कोई संबंध नहीं रखता। नारी-हृदय अपने आप

में ही तल्लीन रहता है । इस प्रकार प्रचार-हीन नारी-हृदय की प्रेमानुभूतियाँ उसी को उत्तप्त आँसुओं से रुलाती हैं; धीरे-धीरे जलाती हैं । वह आँसू और रुदन की धारा में निमग्न होकर भी शांत नहीं हो पाता । हृदयान्तराल भस्म करनेवाली वियोग की पीड़ा, ज्वालामुखी के गर्भ की भाँति, भीतर ही भीतर सर्व-नाश करती रहती है । सुख, शान्ति एवं संतोष विडंबना बन जाते हैं । बेबस आँसुओं की धारा में नारी-हृदय निमग्न होकर भी ऊपर से हँसता है, जलते हुए भी शांति का अनुभव करता है । उत्पीड़ित एवं प्रताड़ित होकर भी वह अपनी वेदना को छिपाता है । सखी ! तुम्हें भी यह सब ज्ञात है । अस्तु, राज-पुत्री होकर भी भिखारिणी की भाँति तुमसे तुम्हारे प्रियतम की भीख माँगती हूं । बोलो, मुझे निराश तो न करोगी न !"

—"नहीं, राजकुमारी ! यदि वे तुम्हें स्नेह और आदर प्रदान कर सकें तो मैं अपने को धन्य समझूँगी और चाहूंगी कि वे तुम्हें अपने नेत्रों की पुतली बनाकर तुम्हारी दृष्टि से देखें । तुम्हारे कानों से सुनें, तुम्हारे हृदय से बात करें । वे तुममें घुल-मिल जायें । तुम्हारे अस्तित्व में उनके प्रेम का लय हो । वे तुममय हो जायें । मैं अपने को भाग्यशालिनी समझूँगी । भारत-साम्राज्ञी का गौरवमय पद तुम्हारे प्रतिष्ठित होने पर ही उज्ज्वल रहेगा, अन्यथा मुझ नर्त्तकी की छाया परंपरागत महानता की सीमा अतिक्रमण कर तुच्छ बना देगी ।"

भुवन-मोहिनी के नेत्रों में बरबस आँसू छलछला आये । उसने अपने युग-बाहु फैला दिये और उनमें तृषित-सी चन्द्र-हासिनी को भरकर हृदय से लगा लिया । वह गौरव भरी वाणी

में बोली—

—"जाओ, राजकुमारी ! विजयश्रवा की गौरवमयी प्रेयसी एवं जीवन-संगिनी बनो। मैं तुम दोनों के प्रेम-संबंधों में कभी भी ईर्ष्या का विष सम्मिलित न करूँगी। मैं भूल जाऊँगी कि अभागिनी नर्त्तकी ने भी कभी भावी सम्राट की प्रेमिका होने का गौरव प्राप्त किया था। मैं यही अपना अहोभाग्य समझूँगी कि विजयश्रवा की जीवन-संगिनी खोजने का श्रेय मुझे भी प्राप्त हुआ था।

राजकुमारी आश्चर्यान्वित-सी, भेदभरी दृष्टि से भुवन-मोहिनी को देखने लगी; किंतु भुवन-मोहिनी उसकी दृष्टि से किञ्चित्-मात्र भी न तो कँपित हुई और न उसे चन्द्रहासिनी के प्रति ईर्ष्या या क्रोध ही उत्पन्न हुआ।

वह बोली—"राजकुमारी ! जिस दिन सम्राट द्युमत्सेन ने मुझे धारा नगरी से निर्वासित किया उसी समय मैंने निश्चित किया कि मैं राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी राजकन्या का परिणय विजयश्रवा से कराऊँगी और अपनी खोज में लगी हुई ही इन्द्रप्रस्थ नगरी में आई। इसके पूर्व भी अनेक बार मुझे नरेशों से ज्ञात हुआ था कि महाराज आदित्यसेन की एकमात्र कन्या राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी है। इसीलिए मेरी रानी ! अपने विजयश्रवा के लिए तुम्हें चुना है। मुझसे भय न खाना मैं तुम्हारी अमृत प्रेम-प्याली में अपने द्वेष की विषैली घृणा न भरूँगी।"

भुवन-मोहिनी का मुख-मण्डल किसी दैवी दीप्ति-प्रभा से आलोकित हो उठा। साथ ही आत्मप्रेम-बलिदान की त्याग-

मयी भावनाओं द्वारा उसका मस्तक भी उन्नत हो उठा। राजकुमारी चन्द्रहासिनी भुवन-मोहिनी की सौन्दर्य-शिखा में अमर त्याग एवं बलिदान की सहस्र रश्मियाँ चमकती देखकर श्रद्धा-भक्ति से अपना मस्तक नत कर बोली—

—"सखी ! यही विश्वास और यही पवित्र देन द्वारा तुम मुझसे बहुत ऊँची हो। मैं आज तुम्हारे प्रदान किये हुए प्रेम एवं प्रियतम द्वारा अपने स्नेह का संसार बसाने का कुतूहलमय स्वप्न देख रही हूँ—देखूँ ! रूप का देवता कभी मुझे भी पुरस्कृत करेगा या नहीं !"

भुवन-मोहिनी स्वयं राजकुमार विजयश्रवा से मिलने चल पड़ी। राजकुमारी ने भी उसी का अनुगमन किया, क्योंकि रूप का अतिथि प्रति क्षण दृग-द्वार पर खड़ा-खड़ा उसके अन्तः-करण के प्रेम एवं आदर का भाजन बन चुका था। प्रति क्षण दर्शन के लिए उतावले नेत्र उद्विग्न रहते थे। भुवन-मोहिनी ने कोई बाधा न दी।

शीघ्र ही दोनों यमुना तट के एकान्त राज-प्रासाद की ओर चल पड़ीं जहाँ राजकुमार विजयश्रवा पर्ण-कुटी में निवास कर रहा था। वहाँ पहुँचकर जब दोनों पर्ण-कुटी के प्रवेश-द्वार तक पहुँचीं, तब उनके हृदय धड़कने लगे। उन दोनों के पावों में बंधन-सा पड़ गया। एक बार वे दोनों कांप उठीं। दोनों ने एक-दूसरी की भावना को समझा।

द्वार पर प्रतीक्षा करता हुआ अरण्यक बैठा था। साथ में राजकन्या चन्द्रहासिनी को देखकर उसने नत-मस्तक हो अभिवादन किया। वह बोला—"देवी। मेरा अंजुलिबद्ध

सादर प्रणाम स्वीकृत हो।"

—"शुभ हो, अरण्यक ! जाओ, देव से निवेदन करो कि भुवन-मोहिनी के साथ राजकन्या चन्द्रहासिनी भी दर्शन के लिए उपस्थित है।"

अरण्यक भागा-भागा अपने स्वामी के पास पहुँचा और भुवन-मोहिनी के साथ-साथ राजकुमारी के पदार्पण करने की भी सूचना दी। स्वयमेव विजयश्रवा राजकुमारी के सम्मान एवं स्वागत के लिए पर्ण-कुटी के द्वार तक आया, जहाँ वे दोनों प्रतीक्षा कर रहीं थीं।

—"शुभ स्वागत है ! राजकुमारी एवं भुवन-मोहिनी का !"

दोनों महिलाएँ लज्जित हो गईं। राजकुमार अपनी दृष्टि में विनय एवं कुतूहल भरे हुए आदर एवं स्नेहयुक्त वाणी में बोला—"देवी ! कुटिया के अन्दर पधारो। मैं अतिथि सेवा द्वारा अपने को सौभाग्यशाली एवं कृतार्थ समझूँगा।

बहुत दिनों पश्चात् भुवन-मोहिनी एवं विजयश्रवा का ऐसा अपूर्व एकांत सहयोग स्थापित हो सका था। अस्तु, बिनय एवं विनोदपूर्ण स्वर में वह बोली—"देव ! क्षमा प्रदान करें। एकांत कुटिया हम नारी जाति के लिए निरापद नहीं, वहाँ हम लोग कैसे प्रवेश करें ?"

राजकुमार भेदभरी दृष्टि से भुवन-मोहिनी को देखकर समरसता के साथ बोला—"जहाँ पुरुष है, वही स्थान नारी के लिए निरापद है, अन्यथा विधाता की कोमलतम कृति नारी महान् सुन्दरी एवं आकर्षक होने के नाते स्वयं निरापद नहीं।

नारी की उपस्थिति अनेक आपत्तियों को साथ-साथ वहन करती है। पुरुष स्वयं भयानक आपत्तियों में पड़ जाता है।"

—"और वह भी नारी के कारण ?" प्रश्नसूचक दृष्टि से भुवन-मोहिनी बोली। यद्यपि आज उसके साथ राजकुमारी चन्द्रहासिनी भी उपस्थित थी, फिर भी आज भुवन-मोहिनी अपने और राजकुमार के बीच होनेवाले चिर प्रेम-संबंध को कपटहीन भावों के साथ व्यक्त करना चाहती थी। आज भुवन-मोहिनी किसी प्रकार के दुराव, सन्देह या अविश्वास को अपने और राजकुमारी के बीच न रहने देना चाहती थी। अस्तु, वह जैसे ही प्रश्न करके भेदभरी दृष्टि से चन्द्रहासिनी की ओर देखने लगी, विजयश्रवा बोला—

—"निःसन्देह, भुवन-मोहिनी ! अनेक बार पुरुषों को स्त्रियों के कारण ही महान् विपत्तियों से मोर्चा लेना पड़ा है; किंत हाँ, नारी के अतुल प्रेम-दान ने पुरुष के महान् पराक्रम को चमका दिया है। नारी की तुष्टि के लिए पुरुष ने बड़े-बड़े साम्राज्य बनाकर बिगाड़ डाले हैं और नारी की प्रतिमा स्थापित कर अपनी पूजा एवं पुजापा द्वारा उसे कृतकृत्य भी किया है।"

—"और देव को यह भी ज्ञात है कि पुरुष के श्रद्धा, स्नेह एवं प्रेमदान को गौरवपूर्ण बनाये रखने के लिए नारी ने प्रज्ज्वलित अग्नि की धू-धू करनेवाली ज्वालाओं में फूल-जैसा कोमल शरीर क्षणभर में भस्म कर डाला है।"

—"तभी तो विधाता ने नारी-पुरुष की अद्भुत सृष्टि

इसीलिए कर डाली है कि वे एक-दूसरे के स्वाभाविक आकर्षण में पड़कर, एक रचनात्मक सृष्टि बनाते हैं, जो उनके रहने लायक होती है और नारी-पुरुष का परस्पर अभेद्य संबंध स्थापित रहता है, उसके निर्माण में उनकी जागरूक सत्ता का बोध होता है। कैसा है यह जगत ! सूक्ष्म और स्थूल !! नारीमय–पुरुषमय !!! विजयश्रवा एक गूढ़ दृष्टि द्वारा अनुभव कर रहा था—जैसे भुवन-मोहिनी आज अपने समस्त आवरणों को हटाकर भावों की दुनिया में अपने को एकाकी अनुभव कर रही है। उफ़, हमारा अस्तित्व ही कितना क्षुद्र है ? फिर एकाकीपन का बोध न हो, यह संभव कैसे है ? सबकी अलग-अलग मञ्जिल है, सब अलग-अलग मञ्जिल के अलग-अलग राही। एक जीवन का साथ ही कितना ! अनन्त जीवन, अनन्त बिछोह एवं मिलन की छलनाएँ जीवन-पट पर चल-चित्र की भाँति उभरतीं और नष्ट होती जाती हैं।

विजयश्रवा प्रकट रूप में बोला—"भुवन-मोहिनी ! हम लोग आज एक दीर्घ वियोग के पश्चात् मिल रहे हैं। तुम्हारे साथ में राजपुत्री चन्द्रहासिनी भी मेरी कुटिया में पधारी हैं। बोलो, इस शुभागमन के अवसर पर मुझे किस प्रकार अतिथि पूजा एवं सत्कार करना चाहिए ?

—"सर्व-प्रथम भावी सम्राट को वचनबद्ध होना पड़ेगा कि मैं जिस प्रकार चाहूंगी, आगत अतिथि की सेवा के लिए आदेश दूँगी वह निःसङ्कोच बनकर भावी सम्राट को पालन करना होगा।"

—"एवमस्तु!" कहकर मुसकुराते हुए विजयश्रवा, पास

पड़े हुए कुशआसन पर बैठ गया।

विजयगर्व से भुवन-मोहिनी ऐसी सम्मोहक दृष्टि से विजयश्रवा को देखने लगी मानो वह जो कुछ आदेश देना चाहती थी, जैसे वह सब पूरा हो चुका है।

—"अच्छा तो सुनिए!" भुवन-मोहिनी भेद-भरी दृष्टि से राजकुमार को अपलक देखने लगी। उसकी दृष्टि में अतीत की कुछ सुखद् स्मृतियाँ सजीव बनकर नाचने लगीं। उसे वे एकान्त क्षण याद आये जब धारा नगरी के राजप्रासाद में राजकुमार विजयश्रवा के सम्मुख बैठी हुई, अपने चित्र की अनेक सौम्य एवं आकर्षक भावनाओं को चित्रित करने में विजयश्रवा को सहायता पहुँचाती थी और विजयश्रवा उन्मुक्त हृदय होकर प्रेयसी के सौन्दर्य-सागर में निमग्न रहते हुए, अनेक अमूल्य सुषुमा से परिपूर्ण रत्नों की खोज लगाकर, अपनी तूलिका द्वारा प्रेयसी के चित्र में अङ्कित करता था।

वे दिन थे प्रेमानुभूतियों से परिपूर्ण, जब विजयश्रवा के जीवन में प्रथम आकर्षक नारी के रूप में केवल भुवन-मोहिनी ने प्रवेश किया था और विजयश्रवा मधुमय प्रेम के मादक प्यालों को पी-पी कर आत्म-विस्मृत हो जाया करता था। विजयश्रवा को प्रेम की भयानकता का उस समय तक कोई ज्ञान न था। वसन्त की भाँति उसके जीवन में चारों ओर सरसता ही छायी दिखलायी पड़ती थी और उन्हीं दिनों भुवन-मोहिनी भी अपने सौन्दर्योन्माद से अपरिचित रहकर, अनजाने ही विजयश्रवा को मधुर स्नेह-सूत्र में आबद्ध

करती जा रही थी।

एक वह दिन था, जब विजयश्रवा के जीवन की कोमलतम प्रेमानुभूतियाँ भुवन-मोहिनी को हृदय-दोल पर बिठाकर, मधुर उमङ्गों के मादक झटकों को खाती हुई, वायु के अनन्त पथ पर विचरण किया करती थीं। दोनों एक-दूसरे से मिलकर एकाकार हो चुके थे। उस समय तक चन्द्रहासिनी जैसी किसी अनन्य सौन्दर्यमयी नारी का प्रेम-अस्तित्व उसके हृदय पर कोई प्रभाव न डाल सकता था। विजयश्रवा और भुवन-मोहिनी परस्पर एक-दूसरे को जाने-अनजाने अपना प्रेम-अर्घ्य प्रदान कर चुके थे।

भुवन-मोहिनी क्षणभर के लिए उद्विग्न हो उठी। उसे अब चन्द्रहासिनी भी दिखलायी पड़ी, जो स्थूल दृष्टि में विजयश्रवा और उसके सम्मुख बैठी हुई सलज्ज भाव से चारों ओर अपनी सौन्दर्य-श्री बिखेर रही थी और सूक्ष्मतम भावनाओं द्वारा उन दोनों के हृदयान्तराल में प्रवेश कर प्रश्नवाचक दृष्टि से भुवन-मोहिनी से मानो पूछ रही थी कि उसका प्रेमासन विजयश्रवा के हृदय में अब तक क्यों नहीं बिछाया गया! वह राजपुत्री है और उसके प्रेम की वही वास्तविक अधिकारिणी है! एक नर्त्तकी को चाहिए कि वह अपना प्रेम-पात्र अपने समाज में चुने और युवराज का हृदय-मन्दिर एक राजकुमारी के लिए रिक्त रहने दे।

भावों के उधेड़-बुन में कुछ क्षण यूं ही बीत गये। वे तीनों दृष्टि द्वारा एक-दूसरे से कुछ कह-सुन रहे थे; किन्तु, वाणी मौन ही थी।

—"देव !" प्रकट रूप में अति गम्भीर वाणी में भुवन-मोहिनी बोली—"राजकुमारी चन्द्रहासिनी आपका आतिथ्य ग्रहण करने से पूर्व यह जानना चाहती हैं कि आपके जीवन में उन्हें कोई स्थान प्राप्त होगा या नहीं।"

संभवतः विजयश्रवा भुवन-मोहिनी द्वारा ऐसे स्पष्ट प्रश्न की आशा भी न रखता था; किन्तु जब भुवन-मोहिनी ने उक्त प्रश्न सामने ही रख दिया, तब वह सावधान होकर बोला—"क्या इस प्रश्न का उत्तर देना अनिवार्य है ? और वह भी इसी समय ??"

—"अवश्य देव !"

—"किन्तु मैं समझता हूं कि मेरे उत्तर देने की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसे प्रश्न प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में बड़े ही महत्वपूर्ण और गोपनीय हैं। फिर भी यदि तुम चाहती ही हो कि उत्तर दिया जाना आवश्यक है, तब स्वयं तुम्हें मेरे जीवन और जीवन की भावनाओं का अधिक ज्ञान है। तुम स्वयं राजकुमारी के साथ बैठकर वही उत्तर दे सकती हो, जो मैं स्वयं देता।"

भुवन-मोहिनी ने दृष्टि उठाकर चन्द्रहासिनी के मुखड़े में गड़ा दी। स्वयं चन्द्रहासिनी उक्त प्रश्न को सुनकर प्रसन्न तो हुई, किन्तु राजकुमार का प्रत्युत्तर सुनकर वह स्तब्धर ह गई। लज्जा ने अपनी अरुणाई द्वारा चन्द्रहासिनी को अवाक् कर दिया। वह समझ गई कि राजकुमार का भुवन-मोहिनी के प्रति प्रगाढ़ प्रेम-सम्बन्ध है, वह किसी भी मूल्य पर सहसा शिथिल नहीं किया जा सकता।

वास्तव में चन्द्रहासिनी ने स्वयं ही आत्म-समर्पण किया था; किन्तु राजकुमार की वास्तविक मन:स्थिति का ज्ञान भी उसे उसी क्षण होगया था, जब राजसभा में भुवन-मोहिनी को सतृष्ण दृष्टि से विजयश्रवा देख रहा था। दूसरे भुवन-मोहिनी के अनावृत तैल-चित्र को देखकर वह और अधिक निराश हो गई थी, कारण कि वह तैल-चित्र साक्षात् भुवन-मोहिनी से अधिक आकर्षक एवं सलोना था। राजकुमारी भली-भाँति समझ गई थी कि उक्त तैल-चित्र स्वयं विजयश्रवा ने चित्रित किया है और भुवन-मोहिनी के स्वरूप की सुन्दर झाँकी साक्षात् से कहीं अधिक राजकुमार के अन्तर्पट पर उभर चुकी है।

अस्तु, उक्त प्रश्न को अनिच्छापूर्वक दबा देने की मौन आकाँक्षा चन्द्रहासिनी के मुख पर नाचने लगी। भुवन-मोहिनी ने चन्द्रहासिनी के आन्तरिक भावों को समझ लिया; किन्तु भुवन-मोहिनी ऐसी बातों से निराश होना न जानती थी।

सहसा उसके हृदय में जिस नारी-हृदय की उदारता का स्फुरण हुआ था, वह नारी-हृदय स्वार्थ से कहीं अधिक आत्म-त्याग की महान्ता को समझता था।

भुवन-मोहिनी दृढ़ स्वर में बोली—"देव! राजकुमारी चन्द्रहासिनी ने अपनी ओर से निश्चय कर लिया है कि वे या तो अपने जीवन में आपको प्राप्त करेंगी अन्यथा यावज्जीवन कुमारी रहकर, एक दिन निराश जीवन का पटाक्षेप कर देंगी।"

—"किन्तु ऐसे सङ्कल्प का प्रत्यक्ष लाभ तो कुछ नहीं

है ।"

—"न हो, किन्तु ऐसे जीवन को स्वीकार करने की प्रेरणा भी तो आप ही ने दी है ! आप ही ने राजकुमारी के शून्य-जीवन में अनेक सरस भावनाओं को अनुप्राणित किया है । आप ही के द्वारा प्रेमोपहार प्राप्तकर राजकुमारी पूर्ण-रूप से कृतकृत्य होचुकी हैं । वह देखिए न ! आपका हृदय चूमनेवाला मुक्तामणि-माणिक हार आज चन्द्रहासिनी के जीवन का अमूल्य निधि बन गया है और अपनी कनिष्ठिका उंगली दिखाइये न ! यह अमूल्य मणि-जड़ित अँगूठी राज-कुमारी ने प्रेमोपहार के रूप में प्रदान की है । इसकी लाज तो रखिए न !"

विजयश्रवा महान् आश्चर्य के साथ भुवन-मोहिनी को देखते हुए बोला—

"आज तुम्हें क्या हो गया है, भुवन-मोहिनी ! क्यों आत्म-नाश करने पर तुली हो ? जो हृदय तुम्हारी भेंट चढ़ाया गया, उसे तुम अस्वीकार भले ही करदो; किन्तु तुम्हारी ओर से यह प्रस्ताव शोभा नहीं देता कि एकबार समर्पित किया हुआ हृदय दुबारा समर्पण का व्यापार रचाये !"

जहाँ तक राजकुमारी चन्द्रहासिनी के व्यक्तिगत जीवन का सम्बन्ध था वह विजयश्रवा के व्यवहार द्वारा निराश एवं कुपित होती जारही थी; किन्तु दूसरी ओर वह यह नहीं समझ पाती थी कि राजकुमार उसके प्रेमार्घ्य को स्वीकार नहीं कर सकते थे तो उन्होंने प्रेमोपहार के आदान-प्रदान में ऐसी तत्परता क्यों दिखलाई ?

क्षणभर पूर्व जिस चन्द्रहासिनी के मुख पर नवीन आशाएँ नव-उल्लास एवं नव-जीवन की किरण-मालिकाएँ नाच रही थीं, वे मानो किसी क्रूर आघात द्वारा बालू की भीत की भाँति ढहरा गईं। चन्द्रहासिनी के भावों ने भुवन-मोहिनी के प्रशाँत मुख को विकृत कर दिया। एकबार दयनीय दृष्टि से चन्द्र-हासिनी को देखकर पुनः भुवन-मोहिनी युवराज से बोली—"देव ! बड़ी तत्परता, खोज एवं प्रयास के पश्चात् मैंने राज-कुमारी चन्द्रहासिनी को आपके योग्य जीवन-सङ्गिनी के रूप में चुना था। मैं जानती हूं कि यदि देव ने मुझे ही अपने स्नेह-दान से भाग्यशाली बनाया तो मैं सारे साम्राज्य में अपने ही साथ आपके वंश-परम्परा की अपकीर्त्ति भी कराऊँगी। मेरे कारण युगों की सञ्चित कीर्त्ति एवं प्रतिष्ठा नष्ट हो जाएगी—और आपके पवित्र एवं यशस्वी कुल में कलङ्क की कालिमा पुत जाएगी—मैं अपने तुच्छ प्रेम के नाम पर आपका सर्वनाश नहीं चाहती—आपकी अपकीर्त्ति को सहन नहीं कर सकती।"

विजयश्रवा किन्हीं गम्भीर भावनाओं की उहापोह में आत्म-विस्मृत-सा कुछ सोच रहा था। भुवन-मोहिनी अपने स्थान से उठकर विजयश्रवा के चरणों के सहारे जा बैठी। उसने दोनों हाथों से विजयश्रवा का चरण-स्पर्श किया और उन्हीं चरणों में शीश रखकर बैठी रही।

विजयश्रवा का ध्यान भुवन-मोहिनी द्वारा चरण-स्पर्श किये जाने पर भङ्ग होगया। उसका कोमल कर-स्पर्श विजय-श्रवा के जीवन में विद्युत्-तरङ्गों जैसी द्रुत हलचल उत्पन्न करने लगा। उसने वीणा-विनिन्दक कोमल भावों की स्वर-लहरी

में प्रियतम को सम्बोधित करते हुए कहा—"मेरे प्रेम के वरदायक देवता ! यदि मुझे अपने चरणों के आश्रय से दूर न रखना चाहते हों तो राजकुमारी चन्द्रहासिनी को अपनी जीवन-सङ्गिनी के रूप में अवश्य चुनें। मैं राजकुमारी के माध्यम से इन चरणों की पावन-पूजा का सुख लूटूंगी और अपने इस तुच्छ जीवन को सफल एवं सार्थक बना डालूंगी।"

विजयश्रवा के भावों में एक तीव्र अन्तर्द्वन्द्व मचा हुआ था। जहाँ पर आजतक भुवन-मोहिनी की प्रतिमा प्रेम की अधिष्ठात्री बनकर स्थापित थी, वहाँ अब चन्द्रहासिनी को प्रतिष्ठित करना था। चन्द्रहासिनी प्रथम दिन की भेंट के पश्चात् निरन्तर प्रयास करती आई थी कि वह शीघ्र ही भुवन-मोहिनी का स्थान ग्रहण करलेगी और जबसे उसे विजयश्रवा द्वारा प्रेमोपहार प्राप्त हुआ था, तबसे वह स्वयं आशा लगाये बैठी थी कि वह दिन शीघ्र ही आनेवाला है, जब वह भुवन-मोहिनी के रिक्त स्थान की पूरिका बनकर विजय-श्रवा के कामदेव जैसे स्वरूप की महामहिमामयी प्रेयसी बनेगी; किन्तु आज उसे ज्ञात हुआ कि उसने प्रेमोपहार के रूप में जिस मणि-माणिक से जड़े हार को प्राप्त किया है, वह प्रेमोपहार न होकर एक नव-परिचिता राजपुत्री के लिए, भावी सम्राट के स्नेह एवं दयायुक्त व्यवहार के प्रदर्शन करने का साधन-मात्र था। राजकुमारी इस उदार व्यवहार को ही प्रेम एवं समर्पण का खेल समझ रही थी; किन्तु इस गुत्थी को स्वयं विजयश्रवा ने यह कहकर सुलझा दिया कि उसने महाराज आदित्यसेन के दया एवं मैत्रीपूर्ण व्यवहार के बदले में अपनी ओर से

राजकुमारी को पुरस्कृत कर अपने वंश-परम्परागत व्यवहार का परिचय दिया है ।

चन्द्रहासिनी की मानसिक स्थिति उस ज्वालामुखी के सदृश थी, जिसका प्रज्ज्वलित उद्गार बाहर नहीं दिखलाई पड़ता; किन्तु भीतर ही भीतर वह पृथ्वी के गर्भ में बड़ी-बड़ी प्रस्तर की अभेद्य मालाओं को चकनाचूर करता जाता है ।

चन्द्रहासिनी तीव्र विषधर के दंशन जैसी पीड़ा से स्वयं छटपटा रही थी । केवल मुख के भावों को बड़े संयम के साथ गोपनीय बनाये हुए थी । भुवन-मोहिनी ने लाख-लाख चेष्टा की और चाहा कि विजयश्रवा मौखिक रूप से उसे अपनी सम्पूर्ण सहानुभूति प्रदान करे और उसे भावी पत्नी बनाने की स्वीकृति प्रदान करदे; किन्तु वह अपनी चेष्टा में कृतकार्य न हुई।

चन्द्रहासिनी जिस रूप की गरिमा एवं वैभवशालीनता के मद में आत्म-विस्मृत रहा करती थी और जिस अहंकार ने कई बार भुवन-मोहिनी का अपमान किया था, आज विजय-श्रवा की निर्मम-वाणी द्वारा चूर-चूर होगया । वह लाख सोचने पर भी यह न जान सकी कि किस आकर्षण ने भुवन-मोहिनी को विजयश्रवा की दृष्टि में इतना ऊँचा और महान् बना डाला है कि एक क्षुद्र नर्त्तकी सैकड़ों राजपुत्रियों के रूप और वंशगत महानता से कहीं अधिक आदरणीय एवं श्रद्धामयी बन गई है ।

अबतक चन्द्रहासिनी अपने सम्बन्ध में एक शब्द भी विजयश्रवा से न बोली थी; किन्तु निरन्तर भुवन-मोहिनी के प्रयास करने पर विजयश्रवा इस बात से सहमत होगया कि यदि उसे विवाह करना ही पड़ा तब वह अवश्य राजकुमारी को

संवरण करेगा; किन्तु प्रश्न यह है कि राजकुमारी कबतक प्रतीक्षा करेंगी ?

राजकुमारी के साहस का बाँध फूट गया। जिस नारी-सुलभ लज्जा ने अबतक उसे न बोलने के लिए विवश कर रखा था, वह मानो अपने अस्तित्व को लुटते देखकर क्रिया-शील बनने का दु:साहस कर बैठी।

कोमल सङ्गीत-मुखरित वाणी में चन्द्रहासिनी विजयश्रवा को सम्बोधित करते हुए बोली—"देव ! आपने प्रश्न किया है कि मैं कबतक प्रतीक्षा करूँगी ? इसका उत्तर मैं यही निवेदन करती हूं कि आपको प्राप्त करने की आशा मेरे जीवन में इतनी मूल्यवान है कि मैं एक नहीं—अनन्त जीवन तक प्रतीक्षा करूँगी। यदि मैंने जाना कि देव के जीवन का व्रत किसी महान् उद्देश्य के लिए आत्मोत्सर्ग करना है, तब मैं भी उसी पथ का अनुसरण करूँगी।"

चन्द्रहासिनी काँपती और सलज्ज वाणी में बड़ी कठिनाई से इतना कह सकी थी। विजयश्रवा गम्भीर भाव से कभी चन्द्रहासिनी, कभी भुवन-मोहिनी को देखता था; किन्तु मन के अन्तर्पट में एक प्रश्न उभरकर उसकी अन्तर्दृष्टि में नाच रहा था। भुवन-मोहिनी और चन्द्रहासिनी प्रेममयी सरिता की दो दुकूल थीं, जिनमें परस्पर विचार साम्य देखकर विजयश्रवा सोचता था कि अन्तत: उसे किस किनारे का सहारा लेना होगा ? वह एक किनारे में ठहरकर यदि अपने भ्रमित एवं उत्तप्त जीवन की थकान मिटाने का प्रयास करेगा तो—स्वाभाविक रूप से दूसरा किनारा शून्य, नीरव एवं नि:सार बन

जायगा। एक ओर यदि मिलन की रागिनी गुञ्जरित होकर वसन्त की मादकता भरेगी तो दूसरी ओर दीर्घ वियोग की विहाग-रागिनी करुणा एवं अनमनेपन की सृष्टि करेगी—अंततः जीवन में अन्तर्द्वन्द्व बना रहेगा जो पलभर भी शांत न रहने देगा।

प्रकट रूप में विजयश्रवा बोला—"राजकुमारी! एकबार भुवन-मोहिनी की ओर देखो। वह कितनी आत्मत्यागिनी है? उसने जाने-अनजाने यौवन प्रभात में प्रेम के जिस कोमल वृक्ष को आरोपित किया था, और उसे अपने स्नेह, ममता एवं त्याग के जल से सींच-सींच कर पल्लवित एवं पुष्पित किया, आज वह प्रेम-वृक्ष अपनी उन्नत शाखाओं को चारों ओर फैलाए गर्व से भुवन-मोहिनी को देख रहा है। अब वह समय भी आरहा था जब अनेक गर्जन-तर्जन एवं तूफान-बवंडर को सहकर वह प्रेम-वृक्ष सुदृढ़ हो चला था और शीघ्र ही अपने मधुर फलों का रसास्वादन कराकर चिर-व्यथित एवं उत्तप्त जीवन को शाँति प्रदान करता। भुवन-मोहिनी भले ही इस सुख से अपने को वञ्चित रखने का प्रयास करती, किन्तु उस प्रेम-वृक्ष की सहज शीतलता एवं सुमधुर फल उसे अवश्य प्राप्त होते। मैं बिना भुवन-मोहिनी के उस संयोग-वियोग के रस से अभिसिञ्चित वृक्ष की छाया एवं फल का उपभोग कभी न करता। आज देखता हूं कि भुवन-मोहिनी एक दार्शनिक की भाँति उस प्रेम-वृक्ष की छाया एवं फल से अनासक्त है। वह सतत आत्म-त्याग के महान् पथ पर अग्रसर होती जारही है; किन्तु दूसरी ओर मैं! एक निबिड़ अन्धःकार से भरे आसक्त

जीवन जो लेकर मृगतृष्णा में ही जीवन व्यतीत करने की बात सोच रहा हूं। क्या यह धोखा नहीं है ? आज राजकुमारी सर्वान्तःकरण से अपना सर्वस्व उस व्यक्ति को सौंपने जारही हैं जिसका हृदय अतीत काल से दूसरे की धरोहर बन चुका है। राजकुमारी ! मैं नहीं चाहता कि तुम्हारे सुकुमार एवं पवित्र जीवन का सर्वनाश करूँ ! तनिक सोचो, यह महान् मानव-जीवन अनेक लुभावने आकर्षणों का केन्द्र-बिन्दु बनने के लिए नहीं प्राप्त हुआ है। यह तो जन्म-जन्मान्तर के पुण्यों का सौगात है। इसे पाकर अनासक्त भाव से उस मोह-ग्रन्थि को छिन्न-भिन्न करना है, जो अनेक जन्मों के कर्मफल का बन्धन लपेटे हुए आज तक माया-मोह-ग्रस्त जीवन को आवागमन के कठोर बन्धन में जँकड़े हुए थी।"

—"देव ! मैं नारी हूं, स्वयं मायामयी ! मुझे मुक्ति नहीं, बन्धन ही चाहिए। इसी में मेरे जीवन की सार्थकता है और आपकी सेवा में ही मेरे जीवन का जप-तप एवं भोग निहित है। आप स्वयं ज्ञानाश्रय हैं। मैं इन चरणों को त्याग कर अन्यत्र कहाँ जाऊँगी ? मैं चाहूंगी कि आत्मोद्धार-पथ पर आप ही का अनुसरण करूँ; किंतु मैं जो कुछ करूँगी, वह अपने आप नहीं, आपसे प्रेरणा लेकर, आपकी छाया बनकर। मैं ज्ञान-प्रकरण की उपासिका नहीं। मेरा निश्छल ज्ञान यही है कि पग-पग पर आपका अनुगमन करते हुए, आपके साधना की सिद्धि बनूं। दूसरा प्रश्न है भुवन-मोहिनी का ! मैं अधिक उलझन में नहीं डाल रखना चाहती। केवल अपने अंतःकरण से यही कह सकती हूँ कि उसके चरित्र उदात्त हैं। वह मुझसे

महान् है । उसने मेरे लिए अपना सर्वस्व त्याग करने का व्रत लिया है । मैं उसी को अपने को चेरी समझूंगी, भले ही कहने को वह नर्तकी हो और मैं राजपुत्री ! किन्तु मैंने अपनी झोली उसके समक्ष फैला दी थी । उसने उदारतापूर्वक मुझे वह सब-कुछ दे डाला, जो एक नारी दूसरी नारी को नहीं दे सकती । अतः मैं सब समय उसकी कृतज्ञ रहूँगी और उसकी छोटी बहन बनकर उसके अतुलित प्यार की भागिनी बनूंगी ।

विजयश्रवा इस स्पष्ट कृतज्ञता-यापन से द्रवीभूत हो उठा । उसके नेत्र परम कल्याणमयी भावनाओं की दीप्ति से चमक उठे; उसने सन्तुष्ट होकर कहा—"ज्ञात होता है कि राज-कुमारी ने महानता के आदर्श भुवन-मोहिनी से प्राप्त कर लिये हैं और भुवन-मोहिनी को परखने की दृष्टि भी प्राप्त करली है । मुझे अब कोई आपत्ति नहीं है; किन्तु इतना तो मैं फिर भी स्पष्ट कहता हूं कि भुवन-मोहिनी की स्मृति को मेरे हृदय से उखाड़ फेंकने का प्रयास कभी न होना चाहिए, अन्यथा मैं अपनी प्रियता प्रदान करने के स्थान पर केवल घृणा दे सकूंगा ।"

—"मुझे स्वीकार है ।" कहकर चन्द्रहासिनी विजयश्रवा के चरणों में लोट गई । बड़े प्यार से भुवन-मोहिनी ने उसे उठाकर गले लगाया और बोली—"आज से हम दोनों सगी बहनें हैं । हम एक-दूसरे के दुख-सुख में समान भागीदार होंगी ।"

विजयश्रवा भी राजकुमारी के ऊपर द्रवित हो उठा । उसने आदर एवं दुलारभरे स्वर में कहा—"आज तो राज-

कुमारी का अतिथि-सत्कार करना मेरा परम धर्म है। आज हम सब मिलकर एक प्रेममय सह-भोज का आयोजन करें और कल इसी समय हम सब कुरु-क्षेत्र के पवित्र मेले में चलकर साधु-सन्तों का दर्शन करें और लाखों-करोड़ों मातृ-भूमि के सन्तानों की विशुद्ध धार्मिक क्रियाओं में सम्मिलित होकर स्वराष्ट्र के गौरव की मर्यादा को अक्षुण्ण रखें।"

क्षणभर में ही प्रेम की त्रिवेणी लहरा उठी। रति और काम जैसे तीनों प्राणी एक-दूसरे के सुखद मिलन, पावन स्पर्श एवं सम्भाषण का सुख लूटने लगे।

शीघ्र ही विजयश्रवा का दास अरण्यक भी इस त्रिवेणी संगम का महाफल लूटने आ पहुँचा। विजयश्रवा को प्रसन्न देखकर अभिवादन करते हुए बोला—"आज इस पर्ण-कुटी में कुबेर एवं सुरेश की राजसभा का सुख प्राप्त होरहा है। देव आज्ञा प्रदान करें। मैं भी अपनी सेवा द्वारा कृतकृत्य हो लूं।"

विजयश्रवा बोला—"अरण्यक! आज इन्द्रप्रस्थ की राज-कुमारी तुम्हारे निर्वासित युवराज की अतिथि हैं! देखो, उनकी अतिथि-सेवा के लिए उत्तम से उत्तम प्रबन्ध करो।"

—"जो आज्ञा।"

अरण्यक अन्य सेवकों को साथ लेकर राजसी भोजन के विशाल आयोजन में जुट गया। उस दिन वह पर्ण-कुटी अन्न-पूर्णा देवी का अन्न-भाण्डार बन गई। राजकुमारी चन्द्रहासिनी के सम्मान में जो भी भूखा-प्यासा अतिथि व्यक्ति वहाँ पहुँच गया उसकी विधिवत् यथेष्ट आतिथ्य-सेवा की गई और वह अन्न, वस्त्र एवं दान-दक्षिणा द्वारा कृतार्थ कर दिया गया।

अन्त में विजयश्रवा, चन्द्रहासिनी एवं भुवन-मोहिनी भी भोजनादिक कार्यों से निवृत होकर, भुवन-मोहिनी के मधुमय सङ्गीत से कर्ण-कुहरों को रसास्वादन कराने लगे। विनोद एवं ग्रमोद-प्रमोद में वह रात्रि व्यतीत होगई।

रात्रि के अन्तिम प्रहर में उन लोगों ने विश्राम किया और भोर होते ही सबों ने शौच, स्नान एवं संध्या आदि से निवृत्त हो कुरु-क्षेत्र की ओर प्रयाण किया।

विजयश्रवा कुरु-क्षेत्र के पुण्य तीर्थ-स्थल में अपनी युगुल प्रेमिकाओं के साथ-साथ भ्रमण कर रहा था। उसने इन्द्रप्रस्थ के महाराज आदित्यसेन से विलग अपना आवास स्थान चुना था। सार्वजनिक मेले से बहुत दूर—कोलाहल शून्य स्थान में—चमक-दमक एवं महानता के आवरण से निर्लिप्त रहकर वह प्रति दिन हजारों, लाखों व्यक्तियों के बीच में उस संस्कृति एवं वैदिक धर्म को सीखने, समझने, अध्ययन एवं मनन करने आया करता था। उसके साथ उसके भृत्यवर्ग आदि थे किन्तु राजकुमारी चन्द्रहासिनी एवं भुवन-मोहिनी छाया की भाँति उसका अनुगमन करती थीं।

उस पुनीत तीर्थ-स्थल में, जिस महान् पर्व के शुभ अवसर पर भारतीय संस्कृत एवं उसके प्रकाण्ड आध्यात्मिक तत्त्व पर बड़े-बड़े मेधावी ज्ञानी, साधु-महात्मा एवं संन्यासी वर्ग वेद, स्मृति, शास्त्र एवं उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित महान् धर्म पर विशुभ्र-विवेचन करते थे, तब सहसा विजयश्रवा की अन्तरात्मा चिहुँक उठती थी। ज्यों-ज्यों वह मानव जीवन-यापन के अनासक्त भाव की कल्याणमयी वाणी को सुनता

त्यों-त्यों उसके अन्तरतम का हाहाकार बढ़ता ही जाता। वह देखता कि वह सत्यं शिवं सुन्दरम् से बहुत दूर जा रहा है। रूप की आसक्ति ने उसे जीवन के कल्याण-मार्ग से छल-कर कहीं का नहीं रखा है। वह रूप की मदिरा में मदहोश बनकर कर्त्तव्य एवं आदर्श को निर्दयतापूर्वक कुचलता जा रहा है।

उसके कर्ण-कुहरों में कोई गा उठता—'मातृ देवो भव, पितृ देवो भव'............तब वह मोहमय सर्प-दंशन से विषाक्त जैसा बनकर अपने निर्वासित जीवन पर क्षणभर विचार करने बैठ जाता—वह किस प्रकार अपने आदर्श एवं कर्त्तव्य से पतित एवं विमुख बनकर आत्मनाश करता जा रहा है और उस महान् उत्तरदायित्व का भान ही नहीं कर पा रहा है, जो उसका परम्परागत कर्त्तव्य रहा है। आत्म-बलिदान की गौरवमयी कल्पना उसे अपने उत्तरदायित्वों के प्रति सचेत, सतर्क एवं जागरूक बनने की प्रेरणा दे रही थी। वास्तव में कुरु-क्षेत्र में विजयश्रवा का पदार्पण एक दैवी विधान था, जो उसे मोह-मदिरा से उन्मुक्त कराकर, जागरण के नव-प्रभात की सूचना देने आया था।

दिवस का प्रहम प्रथर था। साधु-महात्मा, पापी-पुण्यात्मा, गृहस्थ-विरक्त, सभी प्रातःस्नान एवं सन्ध्योपासन आदि से निवृत्त होकर टोली-टोली में उन स्थानों पर जा बैठते थे, जहाँ लँगोटी के धनी, परम त्यागी, ज्ञानीजन भारतीय अध्यात्म, जीव-बन्धन एवं मोक्ष तथा पुरुषोत्तम पद की विवेचना करते थे। हवन-कुण्डों एवं धूनियों से पवित्र गन्ध

वायु लहरियों के साथ वायुमण्डल में फैलकर सुवासित एवं जीवनप्रद वायु प्रदान करती थी। उसी के धूम्र से अन्तर की अपवित्रता एवं सड़ान्ध को विशुद्ध करके, भौतिक जीवन के अनुराग के प्रति लज्जित होते थे।

कितना क्षुद्र एवं क्षण भंगुर यह मानव-जीवन ! उसी की घृणित आसक्ति कितनी पतित ! विजयश्रवा का मन अशान्त था। वह पीपल के पत्ते की भाँति हलके विचारों के झोंकों से काँप उठता था। भुवन-मोहिनी इस बात को भली-भाँति समझ रही थी; किन्तु चन्द्रहासिनी राजकुमार की क्षणिक उपेक्षा के प्रति भयातुर एवं उद्विग्न हो उठती थी। उसे अनासक्ति एवं वैराग्य के प्रतिपादित करनेवालों के प्रति घोर क्रोध आ रहा था। वह नहीं चाहती थी कि विजयश्रवा जिस आत्म-विस्मृति में निमग्न होता जा रहा है, उससे कोई क्षणभर के लिये ही क्यों चेतनता प्रदान करे। वह सहज-प्रकृति के शारीरिक धर्मों को नहीं चाहती थी कि कोई उन्हें घृणा-पूर्ण बतावे। आज वह मुक्ति नहीं, आसक्ति की पुजारिणी थी।

विजयश्रवा अपने को छिपाये हुए, चन्द्रहासिनी, भुवन-मोहिनी एवं भृत्यादिकों के साथ, उपनिषद आदि के उच्चतम ज्ञानामृत का आस्वादन करते हुए प्रत्येक साधु-महात्मा की कुटी में कुछ समय के लिए या तो बैठ जाता था या खड़े-खड़े ही उपदेश, कथाएँ, अथवा कीर्तन आदि के द्वारा कर्ण-कुहरों के माध्यम से आसक्तिमयी भावनाओं की निवृत्ति पर गहन विचार करने लग जाता था। सहसा जब वह एक महात्मा की

कुटी में बैठे-बैठे ज्ञानामृत का पान कर रहा था, उसे ज्ञात हुआ जैसे किसी विशेष राजकीय प्रबन्ध का आयोजन चल रहा है। उसने कुछ भी जानने-समझने की चेष्टा न की। कुछ ही क्षणों पश्चात् उसे ज्ञात हुआ कि उस स्थान से सम्राट एवं साम्राज्ञी जानेवाले हैं।

विजयश्रवा के मत्थे पर झुर्रियाँ पड़ गयीं। उसने अपने को इस प्रकार अपरिचित एवं साधारण वेषभूषा में रखना चाहा था कि उसे भावी सम्राट के रूप में कोई न जान सके; किन्तु अब यदि वह कहीं उठकर जाना भी चाहता तो भी मार्गावरोध के कारण नहीं जा सकता था। ऐसा ही कठोर राजकीय आयोजन था। जितना ही वह अपने को छिपाता उतना ही उसका देव-दुर्लभ स्वरूप उसके महान् होने का ढिंढोरा पीटते। वह जहाँ कहीं उठता, बैठता, आता, जाता वहाँ सभी जगह जन-साधारण दर्शन-लोभी बनकर उसके पीछे चलते। स्त्रियाँ चन्द्रहासिनी को विजयश्रवा के साथ देखकर अवश्य ही विजयश्रवा के महान् होने की कल्पना करतीं, क्योंकि भुवन-मोहिनी एवं चन्द्रहासिनी दूर-दूर की प्रजा की चिर-परिचित बन गई थीं। अतः दूर-दूर के यात्री भी चन्द्रहासिनी को इन्द्रप्रस्थ नरेश की कन्या के रूप में पहचान जाते थे और इस कारण से भी विजयश्रवा को लोग महान् स्वरूपवान देख-कर समझते थे कि जब राजकुमारी चन्द्रहासिनी एवं भुवन-मोहिनी जैसी स्त्रियाँ उनका अनुगमन कर रही हैं तब वे अवश्य ही किसी द्वीप-द्वीपान्तर के राजकीय कुल के व्यक्ति हैं, अस्तु।

क्षण भर पश्चात् उसी स्थान से सम्राट द्युमत्सेन एवं

साम्राज्ञी निकले। छत्र, चामर, व्यजन आदि से सुशोभित सम्राट ज्ञानी, मुनी, साधु-सन्त, जनता आदि का अभिवादन स्वीकार करते हुए प्रसन्न मन से उस पर्व-काल में दूर-दूर के तीर्थ-यात्रियों को अपना शुभ दर्शन दे रहे थे। सहसा उनकी दृष्टि अपने दैदीप्यमान निर्वासित पुत्र पर जा पड़ी। विजय-श्रवा भी अपने को न छिपा सका। सम्राट के साथ ही महाराज आदित्यसेन भी थे। जिनके द्वारा पहले पत्र से और कुरु-क्षेत्र पहुँचने पर मौखिक रूप में विजयश्रवा के मेले पर उपस्थित रहने की सूचना दी जा चुकी थी।

ज्यों हीं सम्राट की दृष्टि विजयश्रवा पर पड़ी उनका पितृ-हृदय वात्सल्य-स्नेह से द्रवित हो उठा। साम्राज्ञी ने भी अपने हृदय के टुकड़े को देखा—माता-पिता का हृदय पुत्र को गले से लगाने के लिए छटपटा उठा। विजयश्रवा ने बढ़कर साष्टाङ्ग दण्डवत किया।

युवराज के दण्ड-प्रणाम करने पर बन्दीगण युवराज की कीर्ति गाथा का गान करने लगे। चिर वियोगी माता-पिता ने अपने इकलौते बेटे को हृदय से लगा लिया। लजवन्ती-सी सिकुड़ी चन्द्रहासिनी ने भी सम्राट एवं साम्राज्ञी के चरण-स्पर्श किये। यद्यपि चन्द्रहासिनी उनसे चित्र द्वारा परिचित हो चुकी थी; किन्तु उन्होंने अपनी भावी पुत्र-वधु को उठाकर हृदय से लगाया और रति-सा उसका सुन्दर स्वरूप देखकर वे क्षणभर के लिए स्तब्ध रह गये। सचमुच! सम्राट एवं साम्राज्ञी ने भुवन-मोहिनी के पश्चात् आज ही एक अनन्य परम सुन्दरी रमणी-रत्न को देखा था। भावों के मन्थन में ही सारा मिलन-

व्यापार चल रहा था। वाणी मौन थी। अन्तरात्मा आशि-र्वादों की मौन पियूष-वर्षिणी सहस्र धारा बरसा रही थी। मिलन का अनिर्वचनीय सुख प्राणों को विस्मय-विमुग्ध कर चुका था।

विजयश्रवा एवं चन्द्रहासिनी के पश्चात् भुवन-मोहिनी एवं भृत्यवर्ग ने सम्राट एवं साम्राज्ञी का चरण-स्पर्श किया। भुवन-मोहिनी अपराधिनी-सी नत-मस्तक किये हुए सम्राट एवं साम्राज्ञी के सम्मुख खड़ी रही। मूक-मिलन के पश्चात् जो स्तब्धता वातावरण में छा गई थी, उसे सम्राट ने गम्भीर किन्तु क्षमा-सिक्त स्वर में भङ्ग किया।

—"युवराज ! भावी सम्राट !"

—"देव !"

—"तुम्हारे सभी अपराध क्षम्य हैं ! धारा नगरी लौटो। साम्राज्य की प्रजा अपने प्रिय युवराज एवं भावी सम्राट के कुशल-क्षेम जानने के लिए उत्सुक है। और............भुवन-मोहिनी !!! इन एकान्त दिनों में तुमने अवश्य युवराज के प्रति अपनी सेवाएँ समर्पित की होंगी। अतः निर्वासन निषेध किया जाता है। चलो, तुम भी मातृ-भूमि का दर्शन करो ! अब मैं शीघ्र ही अपनी पुत्र-वधु को लेने के लिए पुनः इंद्रप्रस्थ को आऊँगा और महाराज आदित्यसेन की महान् आकाँक्षा को पूर्ण करूँगा।"

साम्राज्ञी ने भावी पुत्र-वधु को हृदय से लगा लिया और एक अमूल्य रत्न-हार उसके गले में पहनाकर प्यार से चूम लिया। चन्द्रहासिनी आज प्रथम बार विजयश्रवा को प्राप्त

कर सकने की स्वर्णिम आशा से कृतकृत्य हो उठी। भुवन मोहिनी का हृदय भी क्षमा-दान पाकर सन्तुष्ट हो उठा।

साम्राज्ञी ने लाजवन्ती सी सिकुड़ी चन्द्रहासिनी की निष्कलङ्क रूप-माधुरी को नेत्र भर कर देखा। सहसा उनकी दृष्टि उस हार पर पड़ी जो सर्वदा विजयश्रवा धारण किया करता था। उसी मणि-माला को भावी पुत्र-वधू की वक्षः स्थली पर सुशोभित देख कर मुस्कुरा उठीं और बोलीं—"देखो बेटी! युवराज ने हम लोगों से पूर्व ही तुम्हें अपना मधुर प्रेमोपहार समर्पित कर दिया है! बोलो! विजयश्रवा के प्रति कृतकृत्य हो न!"

राजकुमारी का चन्द्रमुख लोहित लज्जा की आभा से रक्ताभ हो उठा। मुख मण्डल के सौन्दर्य पर लज्जा की लालिमा, पति एवं लालमणि के समन्वय की मिश्रित रूप-राशि की वृष्टि कर रही थी। कमल दल से रक्ताभ ओष्ठ कम्पित हुए और सम्राट् एवं साम्राज्ञी से कम्पित वाणी में चन्द्रहासिनी इतना ही कह सकी, "राष्ट्रमाता के चरणों की वरदायिनी सेवा का अधिकार मेरे लिए अक्षुण्ण हो।" "एवमस्तु!" कह कर साम्राज्ञी स्नेहपूर्वक चन्द्रहासिनी के शीश पर अपने कोमल कर-पल्लव संचालित करती रहीं।

चिरवियोग के पश्चात् जैसे मिलन-महोदार्य की विशाल स्नेह-राशि में जैसे हृदय समाधिस्थ हो जाता है ठीक वही अवस्था धारा नगरी एवं इन्द्रप्रस्थ के राजकीय परिवार के सदस्यों की हो चली थी।

वियोगी भारतीय सम्राट् का राज परिवार स्नेह-समुद्र के महामिलन से आनन्द आनन्द में निमग्न सा हो गया था। पिछली भूल-चूक सभी क्षम्य थी फिर भी चन्द्रहासिनी के साथ ही विजयश्रवा को भी हृदय से लगाती हुई साम्राज्ञी बोलीं—"युवराज ! समस्त देश पर हूण जाति का आक्रमण होने वाला है। देखना ! अपने दायित्व से च्युत न होना। मेरे दूध की लाज रखना। क्षत्राणी का दूध राष्ट्र-सम्मान के बलिदान मय मूल्य की सदैव अपेक्षा करता आया है। तुम्हें भी इस आसक्ति से निवृत्ति प्राप्त कर राष्ट्र-रक्षा के पवित्र दायित्व का निर्वाह करना होगा। तुम्हारी नसों और धमनियों में भी उष्ण रक्त का प्रवाह होना चाहिए जिससे क्षत्राणी के दूध की गौरवागरिमा अक्षुण्ण रहे।"

—"यही होगा माँ !!! भारत-साम्राज्ञी का दूध समस्त राष्ट्र के गौरव की रक्षा का भार वहन करेगा ! हूणों को विजयश्रवा की शक्ति पराजित करेगी !"

गौरव से सम्राट् का मुकुट उन्तुङ्ग हो उठा। सम्राट बोले—"युवराज ! आज मैं वृद्ध हूं-अशक्त हूं सही किन्तु मैंने राष्ट्र को तुम जैसा प्रतिनिधि समर्पित किया है। आज वंश एवं कुल के सम्मान की रक्षा का दायित्व मुझसे अधिक तुम पर आ पड़ा है। साम्राज्य की सेना अपने भावी सम्राट् के अधिनाकत्व में उन समस्त विदेशी जातियों को पराजित करेगी जो भारतीय वैभव के सपनों द्वारा आक्रान्त हैं। किन्तु सुना है कि हूण जाति एक वीर जाति है जो समृद्धि एवं वैभव की प्राप्ति के लिये रक्त सागर को मन्थन करके विजय श्री के साथ

लौटना चाहती है। मै चाहती हूं युवराज का प्रेम-तृषित हृदय शीघ्र सन्तुष्ट होकर राष्ट्र-रक्षा के प्रश्न पर गम्भीरतम विचार करे !"

सम्राट् युवराज की ओर से अपना ध्यान हटाकर महाराज आदित्यसेन से बोले—"इन्द्रप्रस्थ नरेश ! आप यथा शीघ्र विवाह का आयोजन करें ताकि वैवाहिक संस्कार से निवृत्ति पाते ही युवराज राष्ट्र रक्षा के लिए तत्पर हों। मेरी तीर्थ-यात्रा का एक यह भी उद्देश्य था कि कुरुक्षेत्र की इस अति प्राचीन रण-स्थली में देश भर की प्रजा एवं खण्ड राज्यों के नरेश गण एकत्रित होंगे और राष्ट्र-रक्षा पर एक मन से हम सब लोग मिल कर निर्णय करेंगे !

महाराज आदित्यसेन सम्राट् की बातों का प्रत्युत्तर देने ही जा रहे थे, सहसा विजयश्रवा बोल उठा—"भारत का भावी सम्राट् यह कभी न चाहेगा कि जब राष्ट्र-रक्षा की विकट घड़ी उपस्थित हो तब वह अपने को विलासी कहला कर प्रणय-बन्धन में फँसे ! सम्राट् ! क्षमा करें ! मुझे माता के दूध की गौरवमयी परम्परा को राष्ट्र के प्राङ्गण में सदैव विकसित रखना है। मृत्युञ्जय के उपासक कभी भी विलास की तुच्छ वृत्ति को स्वीकार न करेंगे। मैं अगणित चन्द्र-हासिनी एवं राजकुमारियों के प्रेम-सम्बन्धों को बलिदान कर दूँगा।"

चन्द्रहासिनी जो क्षण भर पूर्व स्वर्गीय-सुख की मनोहर कल्पना में मिलन का साज सजा कर एक अनिवर्चनीय सुख की

घूँटें घूटने लगी थी, वह विजयश्रवा के उत्तर से मानो हतप्रभ सी हो गई, जैसे अदृश्य के क्रूर हाथों ने उसे हिमालय जैसे सुख के उत्तुङ्ग शिखर से नीचे गिरा दिया हो। वह विलासी जीवन की समर्थक न थी। उसे भी महान् बलिदानमय कर्त्तव्यों का ज्ञान था। वह चाहती थी कि विजयश्रवा उसे स्वीकार करके कृतकृत्य कर दे, भले ही दूसरे क्षण मृत्यु की भयङ्कर एवं प्रलयङ्कर ज्वाला में उसे क्यों न भस्म होना पड़े।

चन्द्रहासिनी ने गर्व से अपना नत मस्तक ऊँचा कर लिया और बोली—"पितृतुल्य सम्राट्! मैं भी क्षत्राणी हूं और चाहती हूं कि अतीत काल की अन्य राज्य-महिषियों की भाँति मैं भी युद्ध-क्षेत्र की ओर प्रयाण करूँ और भैरवी बनकर शत्रु दल का संहार कर डालूँ।

महाराज द्युमत्सेन भावी पुत्र-वधू के राष्ट्र-प्रेम एवं क्षत्रित्व के गौरव को देख कर विस्मय-विमुग्ध हो उठे। उन्होंने आशीर्वादों की वर्षा करते हुए कहा—"बेटी! जब तक क्षत्रिय की नसों में एक भी बूँद उष्ण रक्त प्रवाहित होगा तब तक वह यह न चाहेगा कि राष्ट्र की वीराङ्गनाएँ युद्ध-स्थली में उपस्थित हों। तुम्हें ज्ञान नहीं कि कामदेव सा अतुल-रूप-वैभव लिए हमारा पुत्र महान् वीर एवं पराक्रमी भी है। वह हूणों को युद्ध में अवश्य पराजित करेगा किन्तु फिर भी तुम जैसी वीराङ्गना पुत्र-वधू पाकर मैं अवश्य गौरवान्वित हूंगा।"

विजयश्रवा ने पिता की बातों में कोई बाधा उपस्थित नहीं

की किन्तु वह हृदय से अवश्य चाहता था कि चन्द्रहासिनी को उतना ही वचन-दान दिया जाय जितना वह भुवनमोहिनी की उपस्थिति में कह चुका है। फिर भी पिता की बातों का वह कोई प्रतिवाद नहीं करना चाहता था।

विजयश्रवा शान्त रह कर सम्पूर्ण मेले में सम्राट् का अनुगमन करता रहा। सम्राट् स्वयं सर्व साधारण से लेकर बड़ों तक को हूणों के आक्रमण की सूचना देकर राष्ट्र-कर्त्तव्य के प्रति सभी लोगों को जागृत कर रहे थे।

सन्ध्या होते ही महाभारत की उस अति प्राचीन रण-स्थली में खण्ड राज्यों के नरेश एकत्रित हुए। सम्राट् द्युमत्सेन ने अपना प्रयोजन पहले ही सूचित कर दिया था। केवल एक बार उन्होंने हूणों के आक्रमण की चर्चा इस दृष्टि-कोण से की कि अन्य नरेश युद्ध को स्वीकार करते हैं, अथवा सन्धि को!

कहना नहीं होगा कि नरेशों ने एक मत से राष्ट्र-रक्षा के प्रश्न पर उन सभी बातों एवं प्रस्तावों को स्वीकृत कर लिया जिन पर सम्राट् द्युमत्सेन ने चर्चा चलायी। बातों बातों में सम्राट् ने यह भी सूचित कर दिया कि हूणों के साथ लड़ा जाने वाला भावी युद्ध युवराज के नेतृत्व में लड़ा जायगा।

बहुत से नरेशों ने अब तक विजयश्रवा को पहचाना भी न था। अस्तु सम्राट् ने स्वयं अपने उत्तराधिकारी का अन्य नरेशों से परिचय कराया। उन सब नरेशों ने भावी सम्राट् के

प्रति आदर प्रदान करते हुए युवराज के रूप गुण की भूरि-भूरि प्रशंसाएँ कीं। साथ में मागध, सूत एवं बन्दी गण युवराज के अब तक किये गये वीरता पूर्ण कार्यों एवं युद्धों की सूची भी प्रस्तुत करते जा रहे थे जिससे अन्य नरेशों को ज्ञान हो गया कि भावी सम्राट् अपने महान् उत्तरदायित्व को निभाने की क्षमता रखते हैं।

सम्राट् ने भावी युद्ध की रूप रेखा प्रस्तुत करते हुए बतलाया कि हूण जाति महान् महत्वाकांक्षिणी एवं वीर है। फिर भी पिछले युद्धों में सम्राट् ने किस तरह उन्हें पराजित किया था, इसकी विशद चर्चा की गयी। युद्धों में किस प्रकार साम, दाम, दण्ड भेद का प्रयोग किया जाना चाहिए, वयोवृद्ध सम्राट् ने अपने अतीत अनुभव के आधार पर विस्तार के साथ चर्चा की और यह भी बतलाया कि किस प्रकार भारतीय सैनिक संख्या बल, वीरता एवं राष्ट्र-प्रेम के धनी होने के उपरान्त भी विदेशी सैनिकों द्वारा कई बार पराजित किये गये।

युद्ध-भूमि में सैनिक को किस प्रकार शत्रु के आक्रमण को विफल कर अपना दृढ़ मोर्चा बनाना चाहिए और किस प्रकार कभी-कभी शत्रु को अपनी घबराहट प्रदर्शित करके युद्ध भूमि से पलायन करने का ढोंग रचना चाहिए ताकि शत्रु-सेना भगदड़ देखकर पीछा करने लग जाय और इस प्रकार शत्रु की सुदृढ़ रक्षा पंक्ति के छिन्न-भिन्न होते ही अपनी पलायन वाली सेना को कई ओर से अपनी सेना की रक्षा पंक्ति का सबल जमाव देखकर, लौटे पड़ना चाहिए और एक ही प्रबल

आक्रमण द्वारा कई मोर्चों से शत्रु-सैन्य को घेरकर अस्त्र-शस्त्र रखवा लेना चाहिए और शत्रु-दल के किंकर्तव्यविमूढ़ होते ही उन्हें पराजित कर अपनी विजय दुन्दुभी उद्घोष द्वारा अपनी सेना के साहस एवं शौर्य को द्विगुणित करते हुए, आकाश-मण्डल में विजय पताका फहरा देनी चाहिए।

सम्राट् ने स्वयं इस प्रकार के युद्ध के अनेक चित्र प्रदर्शित करते हुए भारतीय युद्ध करना एवं मोर्चे बन्दी की सफल रूप-रेखा प्रस्तुत की और समस्त खण्ड राज्यों के नरेशों एवं विविध प्रान्त के तीर्थ यात्रियों को भावी युद्ध के लिए सावधान करते हुए मातृ-भूमि की रक्षा का पावन व्रत ग्रहण करने की शपथ दिलायी।

उस दिन सम्राट की उपस्थिती एवं युद्ध सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य बातों ने तीर्थ यात्री जनता को इस प्रकार साहस, शौर्य एवं बल प्रदान किया कि सम्पूर्ण तीर्थ-भूमि एक सेनिक शिविर के रूप में दिखलायी पड़ने लगी। युद्ध कला की चर्चा के पश्चात्—और सभा विसर्जन के पूर्व समस्त नरेशों एवं तीर्थ-यात्रियों के प्रति आभार प्रदर्शित करने के लिए युवराज विजयश्रवा उठ खड़ा हुआ और अपने सूक्ष्म वक्तव्य में उसने बतलाया कि भावी युद्ध वयोवृद्धों के आदेशों एवं आशीर्वादों द्वारा राष्ट्र की युवक जनता को लड़ना पड़ेगा। माताओं, बहिनों एवं वीराङ्गनाओं के कायर हृदयों में वीरत्व की ज्योति जलानी पड़ेगी और उनके भालों को लोहित टीकों द्वारा सुसज्जित करा कर रण भूमि में भेजना होगा।

विजयश्रवा ने अन्त में सबको धन्यवाद देते हुए अपना

स्थान ग्रहण किया। कहना नहीं होगा कि जो विजयश्रवा सुन्दरी रमणियों की दृष्टि में स्वयं कामदेव का देहधारी स्वरूप होता, वही विजयश्रवा वीरों के दृश्य टंकोर के लिए वज्रधारी इन्दु सा ज्ञात होता था। वीर दर्प से भरे ओजस्वी मुख-मण्डल में सृष्टि की समग्र वीरता केन्द्रित हो चुकी थी और कुछ क्षणों के लिए राष्ट्र के युवक-हृदय, माया-विह्वल से, बोध करने लगे थे कि जैसे वायुमंडल में विजयश्रवा का सन्देश "युद्ध करो या मरो" गूंजने वाला है।

ठगे से, मन्त्रमुग्ध से, एवं विजयोल्लास से भरे हुए राष्ट्र के युवक प्राणों ने सम्राट् एवं उनके उत्तराधिकारी युवराज के "जय-वादों" से समस्त नभमण्डल गुञ्जित कर दिया।

सभा विसर्जित हुई। सारी तीर्थ-यात्री-प्रजा एवं नरेश वर्ग ने राष्ट्र की मर्यादा को यशस्वी एवं अक्षुण्ण बनाये रखने का सामूहिक व्रत धारण किया। सम्राट् चल पड़े—उनके पीछे-पीछे भावी सम्राट् थे। सम्पूर्ण उपस्थित लोगों ने दोनों पिता-पुत्रों एवं साम्राज्ञी को श्रद्धा-पूर्ण अभिवादन समर्पित किया। साम्राज्ञी को ज्ञात हुआ कि वे जिस पुत्र को अकर्मण्य, विलासी, एवं उत्तरदायित्व-विहीन समझ रही थीं वह वास्तव में अपने दायित्वों के प्रति कितना अधिक जागरूक एवं संवेदनशील था।

ऐसे पुत्र को पाकर माता का मस्तक गर्व से उन्नत हो उठा। वह पुत्र को हृदय से लगाकर बारम्बार उसका मस्तक चूमने लगी। विजयश्रवा ने माता को सम्बोधित करते हुए कहा—"राष्ट्र माता ! एक दिन तुम्हें यह आशंका हुई थी कि

कहीं मैं विलासी बनकर स्वाभिमानिनी क्षत्राणी माता का दूध कलंकित न करूँ उसी क्षण मैंने प्रतिज्ञा थी कि मैं सदैव अविवाहित रहूंगा।"

न जाने क्या सोचकर वह क्षण भर के लिए स्तब्ध रहा, किन्तु उसके वीर दर्प से भरे किन्तु पश्चाताप से गड़े मुखड़े को देखकर माता का हृदय चीत्कार कर उठा। भुवनमोहिनी, चन्द्रहासिनी, इन्द्रप्रस्थ की महारानी कुमुद बल्लभा एवं अन्यान्य महिलाएँ तथा दासियाँ अपलक विजयश्रवा के मुख को देखने लगीं।

सम्राट् द्युमत्सेन महाराज आदित्यसेन एवं गण्यमान्य सामन्त तथा श्रेष्ठी वर्ग के साथ विचार विनिमय करते विजयश्रवा से सौ पग आगे बढ़ गये थे और विजयश्रवा माता को अपने वृषभ-कन्धों का सहारा दिये हुये कुछ धीमी चाल से चल रहा था। किन्तु ज्योंही उसने विवाह न करने की प्रतिज्ञा की चर्चा की त्यों ही उदासी और अनमनेपन ने उन श्रेष्ठ महिलाओं की प्रसन्नता को अपहृत कर दिया।

माता ने विषाद-पूर्ण दृष्टि से विजयश्रवा को देखकर कहा—"मेरे निर्वासित लाल! अपनी इस वृद्धा माता की भूल को क्षमा करो। मैं जानती हूँ कि मैंने अपने ही हृदय के टुकड़े को कठोर एवं अपराधयुक्त वाग्बाणों से बींधकर अपनी इकलौती सन्तान का महान् अपमान एवं तिरस्कार किया था, किन्तु तुम्हारी निश्छल तपस्वी मूर्ति देखकर मेरा हृदय स्वयं अपने कहे वाग्बाणों के लिए पश्चाताप कर रहा है। इसके

अतिरिक्त मात्र सेवी पुत्र को जो निरर्थक कष्ट सहना पड़ता है, वह भी मेरे मातृत्व के विपरीत कार्य हुआ है। इन समस्त त्रुटियों को करते हुए भी, चन्द्रहासिनी को मैंने पुत्र-बधू के रूप में स्वीकार कर लिया है और महारानी कुमद वल्लभा को मैंने तथा महाराज आदित्य सेन को सम्राट् ने वचन-दान दे डाला है। क्या मातृ-पितृ-सेवी पुत्र से अवज्ञा की आशा की जा सकती है। क्या सम्राट् एवं मेरे वचनों का कोई मूल्य नहीं है? क्या विवाह की स्वीकृति देने का अधिकार कभी भी तुमने छीना था? यदि नहीं तो आज की राजपुत्रियों में चन्द्रहासिनी ही सर्वश्रेष्ठ राजकुमारी है जो अक्षय-यौवना, अनिन्द्य-सुन्दरी, पारंगत विदुषी एवं विनयपूर्ण आज्ञा कारिणी है। उसका समग्र जीवन, चरित्र एवं सौन्दर्य निष्कलंक है फिर भला ऐसी राजपुत्री को अपनी पुत्र-बधू बनाने के लोभ को मैं कैसे सम्वरण करूं?

चन्द्रहासिनी साम्राज्ञी के एक-एक शब्द को सुनकर जिस प्रकार श्रद्धा एवं विनय से गड़ी जा रही थी, उसी प्रकार भुवन-मोहिनी अपने निर्विकार मन से स्वार्थ त्याग करने की संकल्प भावना को दृढ़तम बनाये रखने की मूक विनय कर रही थी। दोनों ही प्रेमिकाओं के हृदय की एक ही पुकार थी। चन्द्रहासिनी आसक्ति वशात् चाह रही थी कि विजयश्रवा अपने महान् उद्देश्यों से पतित न होकर भी उसे जीवन-सङ्गिनी के रूप में स्वीकार कर ले और साम्राज्ञी का उसके पक्ष में सर्वदा प्रबल समर्थन बना रहे। दूसरी ओर भुवनमोहिनी चाहती थी कि स्वेच्छा से त्याग किये गये प्रणय-सम्बन्ध की उच्चतम महत्वा-

कांक्षा उसके अन्तःकरण में सदैव जागरूक रहे और वह एक ऐसी प्रेयसी का लोकोत्तर चरित्र निर्माण करे जो अपने जीवन-धन की प्राणपन से सेवा करने वाली अन्य प्रेयसी को जीवन-धन का दान दे दे।

साम्राज्ञी ममता, कर्तव्य एवं वचनबद्ध होने के वशीभूत होकर, चन्द्रहासिनी को पुत्रवधू के रूप में स्वीकार करने के लिए अपने चिरंजीव पुत्र को प्रेरित कर रही थी, जब कि भुवनमोहिनी आत्मत्याग द्वारा चन्द्रहासिनी को उस पद पर प्रतिष्ठित कराना चाहती थी, जिस पद पर वह स्वयं दीर्घ-काल से आसीन थी, भले ही इस भेद को उसके और विजयश्रवा के अतिरिक्त अन्य कोई न जानता हो।

चन्द्रहासिनी भली भाँति समझती थी कि विजयश्रवा के हृदय के जिस गोपनीय अन्तराल में भुवन मोहिनी प्रतिष्ठित है, वहाँ से उसके प्रेम के अस्तित्व को निर्वासित करने की क्षमता किसी में नहीं है। किन्तु हाँ, वह यह भी समझती थी कि माता की अवज्ञा करने की क्षमता विजयश्रवा में नहीं है।

चन्द्रहासिनी की कठोरतम उपेक्षा को सर्व प्रथम भुवन-मोहिनी ही विजयश्रवा के हृदय से टाल सकी थी। इतना ही नहीं, वह अपने समकक्ष प्रेयसी बनी रहने का वचन-दान भी विजयश्रवा से दिला चुकी थी अस्तु चन्द्रहासिनी ने अति गोपनीय कटाक्ष द्वारा भुवनमोहिनी पर यह निर्णय लादने की चेष्टा की कि चाहे जैसे बने, वह विजयश्रवा को माता की अन्तिम इच्छा स्वीकार करने के लिए विवश करे।

भुवन मोहिनी को ऐसा करने में भी कोई आपत्ति न थी, किन्तु वह भली भाँति जानती थी कि यदि उसने माता-पुत्र के बीच चलने वाली वार्ता में कुछ भी भाग लिया अथवा अपनी उत्सुकता प्रदर्शित की, तो सारी बनी बनायी बात बिगड़ जायगी और उसे एक बार पुनः सम्राट् एवं साम्राज्ञी का कोप-भाजन बनना पड़ेगा और फिर भविष्य के लिए नहीं कहा जा सकता कि सम्राट् एवं साम्राज्ञी का कोप भुवनमोहिनी के लिए कितना अनिष्टकारक होगा।

भुवन मोहिनी ने मौन धारण रखना ही उचित समझा और वह चन्द्रहासिनी की प्रत्येक चेष्टा एवं कटाक्ष को हृदयङ्गम् करती हुई ऐसा भाव प्रदर्शित करती रही जैसे वह राजकुमारी की बात को न समझ रही हो।

साम्राज्ञी ने युवराज से अन्तिम बार यह जानने की चेष्टा की कि क्या वह अपने दिये हुए वचनों से रानी कुमुद बल्लभा तथा चन्द्रहासिनी को वंचित कर दे, किन्तु विजयश्रवा ने स्पष्ट कह दिया कि वह अपनी ओर से जो कुछ चन्द्रहासिनी को दे सकता था, वह उसने भुवनमोहिनी को साक्षी बनाकर चन्द्र-हासिनी को प्रदान कर दिया है। इससे अधिक आज वह कुछ नहीं कर सकता। वह भली भाँति समझता है कि राष्ट्र एवं राष्ट्र की प्रजा का जितना सहयोग उसके प्रणय-सम्बन्ध को संस्कार रूप में स्थायी बना रखने के लिए उपयोग में लाया जायगा, राष्ट्र रक्षा का प्रश्न उतना ही जटिल होता जायगा, अस्तु महान् दायित्वों के सामने एक व्यक्ति के विवाह का

मङ्गल-कार्य तुच्छ है, चाहे उस व्यक्ति का व्यक्तित्व कितना भी महान् क्यों न हो ।

अनासक्ति की तुलना में सर्वदा ही आसक्ति पराजित हुई है ।

चन्द्रहासिनी इतना प्रबल समर्थन पाकर भी इस हेतु निराश हुई, क्योंकि उसमें विजयश्रवा के सतत् त्याग करने के चरित्र को अनुसरण करने की क्षमता न थी । इसी हेतु सर्वदा भुवन मोहिनी विजयश्रवा की दृष्टि में "प्रिये" से "प्रियतमे" के पद पर प्रतिष्ठित होती आयी और आज विजयश्रवा के जीवन में भुवनमोहिनी को जो प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी, वह प्रतिष्ठा आत्म-त्याग से वंचित रहने वाली चन्द्रहासिनी के लिए स्वप्न-व्यङ्ग सदृश था ।

दोनों राज-परिवारों के सम्मानित सदस्य एवं सदस्याओं के साथ विजयश्रवा लौटा । अब तक वह जिस अकर्मण्य-स्थिति में रहता आया था, आज परिस्थिति कल से सर्वथा भिन्न थी । कल तक शून्य जीवन व्यतीत करने वाला विजयश्रवा आज महान् दायित्वों के बोझ से अपने को लादकर, निरर्थक जीवन के स्थान पर सार्थक जीवन बिताने की महान् उत्सुकता के कारण अपनी ही दृष्टि में अपने आप गौरवमय बन गया था । सम्राट से मिलने के पूर्व वह जितना शून्य था, मिलने के पश्चात् उतना ही कर्म-निष्ठ बन चुका था । आज सर्वदा की भाँति उसके जीवन के क्षण मूल्यहीन न थे । वह अनेक संकल्प-विकल्पों के पश्चात् जब अपने वासस्थल में पहुंचा, जब तक

सम्राट के साथ चलने वाले प्रतिष्ठित सामन्त, श्रेष्ठी एवं प्रजावर्ग के लोग उससे विलग हो चुके थे क्योंकि सम्राट स्वयं महाराज आदित्य सेन की सेवा-सुश्रूषा एवं आतिथ्य सत्कार के बन्धन में बंधे हुए थे, अस्तु पिता से विलग होने के पूर्व ही विजयश्रवा को साम्राज्य की राजधानी धारा नगरी लौट जाने की आज्ञा प्राप्त हो चुकी थी।

विजयश्रवा एक कर्मनिष्ठ जीवन के समारम्भ के लिए न जाने कब से उत्सुक था, किन्तु जीवन में घटित होने वाले महान् क्षण उपयुक्त समय में ही प्रारम्भ होते हैं। प्रतीक्षा की उद्विग्नता में भले ही मनुष्य को कितना ही अशान्त जीवन क्यों न बिताना पड़े। विजयश्रवा अब तक संयम पूर्वक इसी घड़ी की प्रतीक्षा कर रहा था। उसके हृदय में एक चोट थी, वह यह कि माता पिता ने उसे जिस प्रकार निरपराध होने पर भी उपेक्षित दृष्टि से अपने से विलग कर रक्खा था, वह उस चोट की पीड़ा को अपने अन्तर में छिपाये, सुनसान पहाड़ियों एवं जङ्गलों की खाक छानता हुआ निरुद्देश्य जीवन बिताने के लिए विवश सा था किन्तु अब घने अविश्वास के कुहरे को विनष्ट कर प्रेम एवं विश्वास की ज्योतिर्मय किरणें माता-पिता के हृदय में फूट निकली थीं। विजयश्रवा का व्यक्तित्व तपे तपाये सुवर्ण की भाँति निष्कलंक एवं निर्मल था और स्वयं माता-पिता के हृदय से स्नेह, सौभाग्य एवं आशीर्वाद की त्रिवेणी निकल कर, पुत्र को शक्ति, समर्थन एवं सत्ता के जल से अभिसिंचित कर रही थी। जो कुछ विजयश्रवा को चाहिए था, वह सब उसे प्राप्त हो चुका था।

विजयश्रवा ने अपनी पर्ण-कुटी में आते ही, अरण्यक को धारा नगरी की ओर प्रस्थान करने का सुखमय आदेश प्रदान करते हुए आज्ञा दी कि कोई भृत्य शीघ्र जाकर भुवनमोहिनी को मेरा सन्देश सुनावे कि वह मेरे ही साथ, मेरे रथ में बैठ कर मातृ-भूमि की ओर यात्रा करने की शुभ आयोजना में संलग्न हो। उसके भृत्य तथा वैयक्तिक सम्पत्ति आदि जो भी हो, वह अपने रथ में लाद कर शीघ्र ही पर्ण-कुटी में आ जावे और हाँ उसे निश्चित रूप से यह बतला दिया जावे कि एक दिन—उसके निर्वासन की घड़ी में मैंने यह प्रतिज्ञा ठानी थी कि उसे बुलाने के लिए मैं ही अपना रथ लेकर आऊँगा। वह वेला आज उपस्थित है।

विजयश्रवा के आदेशानुसार अरण्यक ने एक भृत्य को भुवनमोहिनी के पास भेजा और स्वयं राजकुमार की शुभ यात्रा के आयोजन में तत्पर हो गया। इधर कुरुक्षेत्र के पावन-तीर्थ में निवास करते हुए उसने तीर्थ-यात्री प्रजा से जैसा स्नेह-सम्बन्ध स्थापित कर लिया था, वह अनिवर्चनीय था। ज्योंही विजयश्रवा के स्वदेश गमन का सन्देश चारों ओर फैला, उसकी पर्णकुटी मिलन की महान् भूमि बन गयी। सहस्त्रों दर्शनोपासक अपना-अपना काम-काज भूलकर विजयश्रवा के समीप आने लगे। विजयश्रवा इस अभूतपूर्व मिलन-समारोह से भारतीय जनता को कृतार्थ करने लगा। उसने प्रत्येक हृदय से मिलने की चेष्टा की। प्रत्येक तीर्थ-यात्री उससे मिल कर अनुभव करने लगा जैसे तीर्थ यात्रा का पावन-पुण्य विजयश्रवा के स्व-रूप में उनसे मिल रहा हो। विजयश्रवा उन्हें हृदय से लगाते

हुए, मातृभूमि के दायित्वों के प्रति सजग रहने की चेतावनी भी देता जाता था और वे सब विजयश्रवा के आदेशों को अपना पवित्र कर्त्तव्य मानते हुए, हृदय से उसकी शिक्षा-दीक्षा को स्वीकार करते जा रहे थे ।

वह सारा दिन इसी प्रकार मिलने जुलने में व्यतीत हो गया । संध्या हुई, रात्रि का प्रथम प्रहर आया किन्तु नर-मुण्डों के आने जाने का ताँता बराबर बंधा रहा । बड़ी कठिनायी से वह उन सब लोगों को अपने मिलन-सुख से सन्तुष्ट कर सका । इधर सम्पूर्ण प्रबन्ध कर लेने के पश्चात् अरण्यक उसके समीप आकर कानों में विनीत स्वर से बोला—"देव ! भुवन मोहिनी पर्ण कुटी में आ चुकी हैं किन्तु उन्हीं के साथ-साथ राजकुमारी चन्द्रहासिनी भी देव के अन्तिम दर्शन के लिए पधारी हैं ।

विजयश्रवा भेद भरी दृष्टि से मुस्कराया और बोला—"तुम राजकुमारी की सेवा में प्रस्तुत रहो । ज्योंही मुझे अवकाश मिलेगा, मैं उन लोगों के बीच में आऊँगा और हम सब एक ही साथ भोजन करेंगे ।

अरण्यक अपने स्वामी के पास से लौट कर रात्रि के भोजन-शयन करने का प्रबन्ध कराने लगा । चन्द्रहासिनी चिंतायुक्त दृष्टि से प्रतिक्षण विजयश्रवा की बाट जोह रही थी । अब उसे कुरुक्षेत्र के पावन-तीर्थ से कोई प्रेम न रह गया था । विजयश्रवा के जाने के पश्चात् वह इन्द्रप्रस्थ लौट जावेगी या नहीं, यह प्रश्न उसे व्यथित कर रहा था । तीर्थ-यात्रा का पावन-समारोह उसकी दृष्टि में समाप्त हो रहा था, क्योंकि

तीर्थ का देहधारी पवित्र देवता अब विदा होने वाला था। चन्द्रहासिनी इन्द्रप्रस्थ लौट कर न जाना चाहती थी, किन्तु यदि वह इन्द्रप्रस्थ न जाय तो फिर अन्यत्र उसे कहाँ जाना चाहिए, यह प्रश्न ही उसके अन्तःकरण में उथल-पुथल मचाये हुए था।

चन्द्रहासिनी रात्रि के प्रथम प्रहर तक विजयश्रवा की माता के साथ बैठी रही क्योंकि अकेली साम्राज्ञी ही से अपनी सम्पूर्ण आशाओं की पूरिका के रूप में दिखलायी पड़ती थी। जब साम्राज्ञी शयन करने जाने लगीं तब उन्होंने चन्द्रहासिनी को आशा और विश्वास दिलाते हुए कहा था—"बेटी, अब जाओ, भगवान् चाहेगा तो तुम शीघ्र ही मेरी पुत्र-वधू बन कर धारा नगरी के राज-प्रसाद की स्वामिनी बन कर आओगी, किन्तु मेरे युवराज से अन्तिम बार मिलते हुए जाना। मैं अभी शीघ्र ही धारा नगरी न जा सकूँगी क्योंकि मुझे सम्राट के साथ-साथ सम्पूर्ण देश की एक परिक्रमा लगानी होगी। दो तिहाई यात्रा समाप्त हो चुकी है फिर भी एक तिहाई यात्रा अभी बाकी है। हां, हमसे पूर्व युवराज राजधानी में पहुंच जायेंगे!"

चन्द्रहासिनी साम्राज्ञी के चरण-स्पर्श करते हुए दबी जबान से कह उठी—"उसकी बड़ी इच्छा है कि वह साम्राज्य की राजधानी धारा नगरी का दर्शन करे!"

—"अवश्य," साम्राज्ञी ने प्रत्युत्तर दिया—"किन्तु अभी वह अकेली राज-प्रसाद में कैसे रुकेगी? यह प्रश्न

साम्राज्ञी के मन में उठ खड़ा हुआ और मन-ही-मब कुछ निर्णय करने के पश्चात् साम्राज्ञी ने कहा था, "बेटी ! अधीर न होओ ! धारा नगरी के दर्शन करने की प्रबल उत्सुकता को यदि कुछ समय तक और रोक सको तो रोको, क्योंकि जहाँ आज तुम अतिथि बन कर जाना चाहती हो, उसी स्थान पर सर्वदा के लिए—कुछ समय पश्चात्—स्वामिनी बन कर जाओगी और उस समय धारा नगरी की समस्त प्रजा तुम्हारे स्वागत का साज सजाये प्रतीक्षा करती हुई मिलेगी। किन्तु फिर भी मैं तुम्हारा हृदय नहीं तोड़ना चाहती। यदि हमारा युवराज तुम्हें अतिथि के रूप में अपने साथ ले जा सके तो मुझे कोई आपत्ति नहीं !"

साम्राज्ञी से उक्त आश्वासन प्राप्त कर चन्द्रहासिनी खिल उठी। साम्राज्ञी से विदा लेने के पश्चात् वह मन-ही-मन सोच रही थी कि वह विजयश्रवा से कैसे कहे कि वह भी उसी के साथ धारा नगरी जाना चाहती है। वास्तव में चन्द्र-हासिनी चाहती तो यह थी कि स्वयं युवराज उससे धारा नगरी देखने का आग्रह करें और महाराज आदित्यसेन तथा रानी कुमुद-वल्लभा से आज्ञा प्राप्त कर लें कि वे अपने साथ उसे अतिथिनी के रूप में ले जाना चाहते हैं, किन्तु यह बात केवल चन्द्रहासिनी के मानसिक स्थिति की प्रतिबिम्ब मात्र था। वह यह भी जानती थी कि निर्दय राजकुमार के मुख से इस प्रकार का आग्रह असम्भव है।

इसी कारण वह अपनी माता के पास लौट कर यह

पूछने गयी थी कि विजयश्रवा से वह भी अन्तिम बार मिल ले। यद्यपि चन्द्रहासिनी कुरुक्षेत्र आने के समय विजयश्रवा के साथ ही आई थी और उसी के साथ रह रही थी किन्तु इधर जब से सम्राट, साम्राज्ञी और उसके माता पिता कुरुक्षेत्र आ पहुंचे थे, तब से वह लज्जावशात् पुनः माता पिता के साथ रहने लगी थी। उसे स्वप्न में भी यह ज्ञात न था कि स्वयं सम्राट एवं साम्राज्ञी कुरुक्षेत्र में आवेंगे और अपने निर्वासित एवं रूठे हुए राजकुमार को मना कर ले जावेंगे। चन्द्रहासिनी को निश्चय था कि कुरुक्षेत्र से लौटने के पश्चात् विजयश्रवा पुनः इन्द्रप्रस्थ लौट आवेगा और पुनः उसी के पिता का अतिथि बन कर इन्द्रप्रस्थ में ही निवास करेगा।

माता से आदेश प्राप्त कर चन्द्रहासिनी भुवन मोहिनी के समीप पहुँची और उसने देखा कि भुवन मोहिनी भी विजयश्रवा के साथ जा रही है। एक तो चन्द्रहासिनी को प्रत्येक क्षण भुवन मोहिनी का भय बना ही रहता था क्योंकि वह भली भांति जानती थी कि वंश परम्परा की महानता के अतिरिक्त यह रूप, गुण एवं विद्या में किसी भी भाँति भुवनमोहिनी से श्रेष्ठ नहीं है। दूसरे वह यह भी जान गयी थी कि भुवनमोहिनी प्रेयसी के रूप में विजयश्रवा का प्रेमार्घ्य ग्रहण करती है। और विजयश्रवा के अन्तरतम में प्रतिष्ठत है। इसी कारण से अपने स्वरूप के आकर्षण का महान् चक्र विजयश्रवा पर घुमाती जा रही थी और सोचती थी कि यदि कभी भुवनमोहिनी ने उसके प्रेम-व्यापार में आघात पहुँचाया तो राज-

पुत्री होने के कारण शक्ति-बल से भुवनमोहिनी को कुचल देगी ।

इतना सब होते हुए भी भुवनमोहिनी सर्वदा उसके प्रेम-पक्ष का प्रबल समर्थन करती आई थी और अन्त में विजय-श्रया को बाध्य कर इतना तो कहला ही दिया था कि चन्द्र-हासिनी उसी के समकक्ष प्रेम प्राप्त करने की अधिकारिणी बनी रहेगी और विजयश्रवा ने विवाह किया तो चन्द्रहासिनी ही उसकी साम्राज्ञी बनेगी ।

चारों ओर से निराश ओर परिस्थिति बदली हुई देख कर चन्द्रहासिनी को पुनः भुवनमोहिनी की शरण लेनी पड़ी । अब तक भुवनमोहिनी को कुचल डालने की जिस भावना से वह शक्ति बल पर मन-ही-मन इठलाया करती थी, विजय-श्रवा एवं भुवनमोहिनी के साथ-साथ लौटने के कारण उसके शक्ति-बल का आन्तरिक अहङ्कार भी चूर-चूर हो गया ।

जब चन्द्रहासिनी निराश सी भुवनमोहिनी के पास पहुँची तब भुवनमोहिनी की दास दासियां उसके सभी साज-समान एकत्रित कर रथ पर रख चुके थे । रात्रि का प्रथम प्रहर भी समाप्त प्राय था ।

भुवनमोहनी के रथ के घोड़े जुत चुके थे । दास दासियाँ अपने स्थान पर बैठ चुकी थीं । सारथी रथ के घोड़ों की बाग-डोर सम्हाले स्वामिनी के रथारूढ़ होने की प्रतीक्षा कर रहा था । ठीक उसी समय चिन्तित मुद्रा में चन्द्रहासिनी को अपने

पास आई देखकर, भुवनमोहिनी उसकी आन्तरिक घबराहट एवं चिन्ता को देखकर पसीज उठी। वह लज्जा से गड़े हुए नारी हृदय के गोपनीय रहस्यों से भली भाँति अवगत थी। आपत्ति के समय जिस प्रकार सम्राट की निर्वासन आज्ञा ने उसे असहाय अवस्था में रख दिया था, उस समय महाराज आदित्यसेन ने उसे शरण देकर जिस प्रकार निश्चिन्त कर दिया था, भुवनमोहिनी उसे भूली न थी। वह अकृतज्ञा भी न थी। कृतघ्नी बनना वह महापाप समझती थी। उसने प्रेम एवं सहानुभूति पूर्वक चन्द्रहासिनी को हृदय एवं गले से लगाते हुए पूछा—"इस प्रकार विक्षिप्त, खोई हुई एवं अनमनी क्यों बन रही हो ? मैं तुम्हारी पीड़ा को भली भांति समझती हूँ। भूलो नहीं राजकुमारी ! मैं जब तक तुम्हें विजयश्रवा के हृदय का हार नहीं बना दूँगी, तब तक शान्त नहीं हूँगी। विजयश्रवा तुम्हें अवश्य स्वीकार करेंगे।

चन्द्रहासिनी इस प्रकार भुवनमोहिनी की सक्रिय सहानुभूति प्राप्त कर अपनी वास्तविक मनः चेतना की ओर लौटी। नेत्रों में आँसू भरकर बोली—"सखी ! हृदय में जिस प्रेमाग्नि की लपटें धधक उठी हैं, वे क्षणिक वियोग की अश्रु-धाराओं द्वारा बुझने न पावें, यही तुमसे विनीत प्रार्थना है। मैंने होठों पर सर्वदा चंचल हास्य की रेखाएँ देखी हैं, किन्तु आज ऐसा प्रतीत होता है कि राजकुमार की दृष्टि के ओझल होते ही, मेरे जीवन की समग्र प्रसन्नता लुट जाने वाली है। मेरे नेत्र आँसुओं के बोझ को सम्हाल नहीं सकते। मेरी हृत्तन्त्री राज-

कुमार के आकुल वियोग की पीड़ा से करुण रागिनी मुखरित करेगी। समग्र जीवन करुण सागर में निमग्न हो जावेगा। मैं असहाय सी डूबते हुए जीवन को बचा न सकूँगी। बताओ सखी! क्या करूँ जिससे वे मेरी दृष्टि से ओझल न हों। मैं उनके पावन-दर्शन-चन्द्र की चकोरी बनकर एक नहीं, अगणित जीवन व्यतीत कर डालूँगी।"

राजकुमारी की वाणी मौन हो गई। नेत्रों से अश्रु-धारा प्रवाहित हो चली, प्राण कण्ठगत हो गये। अवरुद्ध कण्ठ से आकुल रुदन की हिचकियों का ताँता बँध गया। सर्वदा प्रसन्नता से मुखरित होने वाली वाणी अपार रुदन की क्रीड़ा-भूमि बनने चली। राजकुमारी की सत्ता, शक्ति एवं अपार रूप-मद से विह्वल दृष्टि, युग-युग की असहाय भिखारिणी सी भुवनमोहिनी से दया की भीख-याचना करने लगी।

हृदय से चिपकाये हुए भुवनमोहिनी ने राजकुमारी की अश्रु-जल पूरित आँखों को अपने अंचल से पोंछ डाला। "राजकुमारी! तुम रोती क्यों हो? संयोग-वियोग मानव जीवन का अटल धर्म है। इसे सहन करना ही पड़ेगा, चाहे हँसकर सहन करो या रोकर! मेरा कहना यह है कि सब कुछ प्रभु की आज्ञा समझकर सच्चे मन से अंगीकार करो। सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय एवं संयोग-वियोग का सम्मिश्रण ही तो मानव-जीवन का लेखा जोखा है। दिन-रात एवं काल के माप दण्ड से इन्हें नापकर एक दिन इस दूरी को समाप्त ही करना पड़ता है। जहाँ प्रारम्भ है, वहाँ अन्त अवश्यम्भावी

है। यह सब जीवन-सरिता के दो किनारे हैं। कभी जीवन इस तट पर, कभी उस पर।

चन्द्रहासिनी बड़ी कठिनता से इतना ही कह सकी—"सखी, अभी मैं मानव-जीवन की परिभाषा नहीं जानती, न यही जान सकी हूँ कि मानव-जीवन की उपयोगिता क्या है और हमें यह जीवन क्यों प्राप्त हुआ।"

—किन्तु इसे तो जानना ही पड़ेगा—चन्द्रहासिनी ने कहा।

—अवश्य जानने का प्रयास करूँगी किन्तु राजकुमार विजयश्रवा के माध्यम से। अकेली मैं जीवन-जैसी दुरुह पहेली को नहीं समझ सकती। यदि मैं कहूँ कि अपूर्ण हूँ तो इसका अर्थ है कि पूर्ण का कुछ अंश तो हूँ ही, किन्तु सत्य यह है कि मैं कुछ नहीं हूँ। विजयश्रवा के बिना मैं उस सरिता का शून्य अङ्क या गर्भ बनी रहूँगी जिसका गंभीर एवं जीवन प्रद सरस-रस पूर्णत्व की स्थिति के पूर्व ही सूख चुका है और जो शून्य से अधिक कुछ नहीं है।"

भुवन मोहिनी समझ गई कि राजकुमारी चन्द्रहासिनी जाने-अनजाने अपना सर्वस्व विजयश्रवा के चरणों में उसी की भाँति समर्पण कर चुकी है और विधाता की यह कोमल-तम नारी के स्वरूप में सृष्टि की हुई पुतली—कठोरता के किंचित मात्र आघात को सह सकने में अक्षम है। वह बोली—"क्या तुम मेरे साथ धारा नगरी चल सकोगी!"

जैसे अगाध जलधि-तरंगों में डूबने वाले को विशालकाय

जहाज का सहारा प्राप्त हो जावे, ठीक उसी दृष्टि से चन्द्र-साहिनी ने भुवनमोहनी को देखा; किन्तु नेत्रों में करुणा के भरे हुए आँसू यह विश्वास न कर पा रहे थे कि भुवन मोहिनी जन्म-जन्मान्तर की प्यासी आत्मा के समक्ष मृगतृष्णा का जल दिखला कर क्षणिक त्रुटि करना चाहती है अथवा उत्तप्त प्यास को शीतल-जल-धारा से वास्तव में तृप्त करेगी ?

भुवनमोहनी राजकुमारी की सन्दिग्ध दृष्टि को देखकर समझ गई कि वह उसकी बातों पर विश्वास नहीं कर पा रही हैं अतएव वह पुनः बोली—"राजकुमारी ! मुझ पर विश्वास करो, मैं धारा नगरी की युवराज्ञी बनने से पूर्व ही वहाँ से चल दूँगी । मैं स्वयं राजकुमार विजयश्रवा से आज्ञा प्राप्त कर लूँगी ।

बस, और चाहिए ही क्या ? चन्द्रहासिनी के वे बड़े-बड़े मृग-शावक-नेत्र एक बार पुनः कृतज्ञता से भर गये जिस प्रकार वे कुरुक्षेत्र आने से पूर्व, विजयश्रवा की प्रेयसी बनने का अधिकार प्राप्त करते समय, भुवनमोहनी के प्रति कृतज्ञ बने थे ।

भुवनमोहिनी ने प्यार से एक बार राजकुमारी को हृदय से लगा लिया और पुनः उसके हाथ को पकड़े हुए साथ-साथ आकर रथ पर सवार हो गई । रथ वहाँ से चल कर विजय-श्रवा की पर्ण कुटी की ओर चला और उसी समय अपने एक भृत्य को राजकुमारी के सभी दास दासियों समस्त सामग्री लेकर विजयश्रवा की पर्ण कुटी में आने का आदेश दिया ।

राजकुमारी ने अपना रथ लौटा दिया और वह भुवन-

मोहिनी के साथ विजयश्रवा के शिविर में पहुँच कर उसकी प्रतीक्षा करने लगी। अरण्यक स्वामी के आदेशानुसार राजकुमारी की सेवा में प्रस्तुत था।

अर्द्ध रात्रि बीत चली थी। विजयश्रवा समस्त आगंतुक तीर्थ यत्रियों से मिलकर निश्चिन्त एवं प्रसन्न मुद्रा से वहाँ आ पहुँचा जहाँ भुवनमोहनी चन्द्रहासिनी के साथ उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। दोनों रमणियों ने उठकर युवराज का अभिवादन किया। युवराज उनके अभिवादन को स्वीकार करते हुए अरण्यक से भोजन-सामग्री लाने का आदेश देकर दोनों के मध्य में बैठ गया।

उसने भुवनमोहिनी के निर्वासन के पश्चात् आज प्रथम बार प्रसन्न एवं निश्चिन्त मुद्रा से प्रेयसी को देखते हुए कहा—"भुवनमोहनी ! आज की घड़ी कितनी शुभ है। मानव जीवन के समस्त दुखों और पीड़ाओं का अन्त अवश्य होता है, किन्तु स्वाभाविक रूप से मनुष्य दुःख के क्षणों को सर्वदा के लिए स्थायी मान लेता है। आज हमारे स्वतंत्र पुनर्मिलन का अति मूल्यवान क्षण उपस्थित है और संयोग से उसमें भाग लेने के लिए राजकुमारी चन्द्रहासिनी भी उपस्थित हैं ! मेरी इच्छा है, मैं तुम्हें पुरस्कृत करूँ।"

राजकुमार के नेत्र प्रसन्नता से चमकने लगे। भुवनमोहिनी की प्रसन्नता तो अवर्णनीय थी क्योंकि आज उसकी समस्त पीड़ाओं का अन्त और सुख की स्वर्णिम घड़ियों का उदय था। चिर-वियोग, निर्वासन, एकाकी जीवन, जीवन-यापन के

अनिश्चित साधन एवं आन्तरिक जलन, टीस, मूर्च्छना तथा उत्पीड़न का एक ही साथ अन्त ! अवश्य ही एक ही क्षण में समस्त भौतिक सुखों के उपभोग का प्रारम्भ भुवनमोहिनी के लिए महान् आह्लाद कारण था। उसने सलज्ज, प्रेमाद्ध एवं आदरपूर्ण वाणी में कहा—"देव ! चिरायु हों ! मेरे समस्त सुख-वैभव के क्षण तभी उपस्थित हो जाते हैं, जब देव के पावन दर्शन में मुझ जैसी नारी के तुच्छ जीवन-क्षण व्यतीत होते हैं। फिर भी देव के श्री-मुख से पुरस्कृत किये जाने का आदर पाकर मैं कृतार्थ हूँ।

राजकुमार ने इसी समय न जाने किस सम्मोहक दृष्टि से चन्द्रहासिनी को देखा कि उसकी रक्त संचारिणी समस्त नाड़ियां उर्ध्वगामिनी बन गयीं और राजकुमारी का रक्ताभ चन्द्रमुख वास्तव में चन्द्रहास को भी लज्जित करने लगा। राजकुमारी के मन का समस्त अवसाद क्षण भर में ही नष्ट होगया। राजकुमार ने मीठी चुटकी लेते हुए कहा—"आज तो राजकुमारी का नाम सार्थक ज्ञात होता है !"

राजकुमारी ने कृतज्ञतायापन करने के लिए ज्योंही सरस दृष्टि राजकुमार पर डाली, त्यों ही उच्छृङ्खल मतवाले रस भरे नेत्रों ने अपनी मूकवाणी में कह दिया—"इस सौन्दर्य ग्राहकता पर बलिहारी जाऊं !"

तत्क्षण राजकुमार ने भी उसी सरस वाणी में कहा—"रूप की जादूगरनी ! अनमोल मोल का सौदा करके तुमने मुझे प्रेम की एकान्त साधना से विचलित कर दिया है।

मेरी पलकों में नाचकर तुमने अन्तर के प्रेम-रहस्य को पहचान लिया है। तुम बरजोरी से वहाँ प्रवेश कर चुकी हो जहाँ भुवनमोहिनी चिरकाल से प्रतिष्ठित रहती आयी है! तुमने एक अपराजिता सौंदर्यमयीनारी को भी अपने मायविक रूप के बन्धन में जकड़कर, उसके रूपोन्मोहन से स्खलित कर दिया है। वह स्वयं अपने स्थान पर तुम्हें प्रतिष्ठित करने लायी है।

और जब पुनः विजयश्रवा ने पलक मार कर चन्द्रहासिनी की ओर देखा तो उसे ज्ञात हुआ जैसे अब तक की चन्द्रहासिनी की सलज्ज दृष्टि उसके मुख-मण्डल पर स्थिर हो गई है और वे बड़े-बड़े आकर्षक नेत्र अपनी पलकों में रूप की मदिरा उड़ेल कर विजयश्रवा को मद-विह्वल करते जा रहे हैं। वे जितना ही रूप का पान करते जाते हैं, उतनी ही उनकी तृष्णा रूप का सागर सोखने के लिए अगस्त की प्यास बन चुकी है।

कुछ क्षणों तक भुवनमोहिनी ने स्वयं इस आँखमिचौनी के आकर्षक खेल को खेलने दिया, किन्तु जब विजयश्रवा की दृष्टि चन्द्रहासिनी के मुख पर पड़ गयी और चन्द्रहासिनी की अपलक दृष्टि भूमि को ताकने लगी तब भुवनमोहिनी ने बाधा दी। वह बोली—"देव! मेरा पुरस्कार मुझे मिलना ही चाहिये!"

—"तो माँगो न! लापरवाही से विजयश्रवा बोला।"

—"एक बार आप और सोच लें, मैं जो कुछ माँगूगी, वह देना ही होगा।"

—"हाँ, हाँ, दूंगा, बशर्ते वह वस्तु मेरे प्राणों से अधिक मूल्यवान न हो।"

विजयश्रवा ने आज स्वेच्छा से संयम का बाँध तोड़ डाला। उसकी तृषित किन्तु नियंत्रित वृत्तियाँ स्वेच्छाचारिणी बनकर स्वच्छन्दता का उपभोग करने लगीं। वह स्वयं निरंकुश बन कर कह उठा—"मैं अगणित भुवनमोहिनी एवं चन्द्रहासिनियों को अकेला प्यार करूँगा। चिर अद्वैत आज द्वैत की भावना में मूर्तिमान है। प्रेम वासना का प्रथम प्रतिनिधि है।"

उन दोनों रूपवती कामिनियों ने देखा—"आज विजयश्रवा देहधारी काम बनकर उनके सौंदर्य-सागर में अगणित बार निमग्न होने के लिए सन्नद्ध है और उन दोनों प्रेयसियों की तृप्ति के लिए वह सब कुछ कर सकता है।"

उन तीनों के मन, हृदय, इन्द्रियाँ एवं अन्तःकरण एकाकार होते जा रहे थे। संभवतः भुवनमोहिनी इसी घड़ी की प्रतीक्षा कर रही थी। आज अनङ्ग का रंग तपस्वी विजयश्रवा की पवित्र नाड़ियों में मोहित मूर्च्छना का विष घोलता जा रहा था। भुवनमोहिनी चतुर चिकित्सक की भांति विजयश्रवा के हृदय-रोग का परीक्षण करती हुई उस क्षण की बाट जोह रही थी जब रोगी कुपथ्य सेवन करने की विनीत याचना अपने चिकित्सक से करता है। संभवतः वह क्षण उपस्थित हो चुका था। चिकित्सक अपने स्वाभाविक धर्म से च्युत होने जा रहा था, किन्तु विवश था।

विजयश्रवा ने इस बार उन्मादपूर्ण स्वर में कहा—"देर

मत करो प्रिये ! मैं आज तुम्हें अदेन वस्तु भी देकर अपने दानी होने का परिचय दूँगा। तुमने देर की है, एक के स्थान पर दो पुरस्कार माँगो न !"

उपयुक्त समय आ चुका था। भुवनमोहिनी बोली—"देव एक पुरस्कार तो भविष्य के लिए अक्षुण्ण रहे, किन्तु दूसरा सीधा यही है कि राजकुमारी चन्द्रहासिनी हम लोगों से क्षण भरके लिए भी विलग न हों।"

भुवनमोहिनी का सारा वाग्जाल विजयश्रवा की समझ में आ गया। वह बोला—"एवमस्तु, प्रिये ! किन्तु सावधान ! यदि भविष्य में विजयश्रवा तुमसे दूर होता दिखलायी पड़े—यद्यपि संभावना नहीं है—तो उस स्थिति में सम्पूर्ण दोष का दायित्व तुम्हारा होगा ! जानती हो न ! मानव-जीवन भी पतन का एक इतिहास रहा है। एक बार च्युत हो जाने पर वह पुनः अच्युत नहीं बन सकता।"

—"मैं रोष एवं अविश्वास को—जहाँ तक देव से सम्बन्ध है—अपने जीवन में कोई स्थान न दूँगी !'

आत्म-त्याग की गरिमा से भुवनमोहिनी विलक्षण रूपवती दिखलाई पड़ने लगी। स्वार्थ की निर्मम हत्या ने हृदय में देवत्व को प्रतिष्ठित कर दिया। सर्वदा भोगमय जीवन की झांकी प्रस्तुत करने वाली भुवनमोहिनी सी नारी ने वैराग्य को जीवन का शृङ्गार बनाया। प्राप्य की उपेक्षा करके अप्राप्य की खोज में वह बढ़ चली।

उसने चन्द्रहासिनी को सम्बोधित करते हुए कहा—"मैंने

अपनी प्रियतम सौगात तुम्हें अर्पित कर दी है। हो सके तो सागर में बिन्दु मात्र मुझे प्रदान कर अपनी उदारता का परिचय देना, किन्तु वह कभी बदला चुकाने की दृष्टि से न हो। राजकुमारी ! तुमने मुझसे जब जो कुछ चाहा है, वह सब मैंने तुम्हें अर्पित किया है तुम मेरी छोटी बहन बनी हो न ! किन्तु हमारा यह सम्बन्ध बहुत एकान्त का है। समाज और संसार की दृष्टि में तुम एक महा महिमामयी और मैं तुच्छ नारी हूँ।"

चन्द्रहासिनी को मानो मृत्युञ्जय का वरदान मिला। वह बोली—"बहन ! कृतज्ञतायापन के लिए मेरी वाणी में शब्द नहीं है। तुमने बारम्बार मेरे जीवन को आत्मप्रवञ्चना एवं आत्म प्रतारणा के गर्त से ऊपर उठा कर सुख शाँति एवं समृद्धि के स्वर्ग में प्रतिष्ठित किया है ! देव स्वयं साक्षी हैं ! तुम एक अशुभ नारी के वेष में महान् दैवी सम्पत्ति द्वारा अपने जीवन को सजाकर स्वयं देवी बन चुकी हो। मैं तो शक्ति, अहंकार, अहम्मन्यता एवं सत्ता की गोद में पल कर साधारण मानवी हूँ, भले ही मेरा बाह्य स्वरूप महानता का परिचायक हो।"

भुवनमोहिनी ने चन्द्रहासिनी को हृदय से लगाकर चूम लिया। विजयश्रवा यह समर्पण एवं आत्मिक प्यार देखकर हृदय से भुवनमोहिनी के लिए विह्वल हो उठा और मन-ही-मन बोला—"यह जो नारी अपने को तुच्छ एवं हीन समझती आई है, जिसने अपना अन्तर एवं बाह्य मेरे लिए बखेर रखा है, उसे मैं कब से समेट कर अपने आप में छिपा लेना चाहता

रहा हूँ किन्तु मैं उसका बिखरना रोक नहीं पाता। मैं उसे अपने आप में समेट नहीं सकता।"

प्रकट रूप में विजयश्रवा बोला—"भुवनमोहिनी ! मैं आज तक तुम्हें नहीं समझ सका। जब मैं अपनी समझ की परिधि में तुम्हें घेर लेता हूँ, तब मुझे ज्ञात होता है कि तुम्हारे व्यक्तित्व का न जाने कितना भाग अभी भी मैं स्पर्श नहीं कर सका। समझ की परिधि के भीतर रख लेना तो दूर की बात है।

व्यंग से भुवनमोहिनी बोली—"देव की दृष्टि में राजकुमारी की महानता छिपी रही है, किन्तु मुझे आदर देकर उन्हें प्यार करना भी देव की ही एक महान् कला है !"

—"पगली !"

विजयश्रवा ने भुवनमोहिनी के कपोल पर हल्का सा चपत मार दिया, मानो भुवनमोहिनी स्नेह के अमूल्यदान से पुरस्कृत हो गयी।

बातों को बदलते हुए भुवनमोहिनी ने कहा—"मैं क्षुधार्त हूँ देव ! यदि आदेश दें तो अरण्यक सबको भोजन कराये।"

—अवश्य प्रिये ! अरण्यक न जाने कब से भोज्य सामग्री एकत्रित किये हुए हम सब की प्रतीक्षा में है।

विजयश्रवा ने राजकुमारी, भुवनमोहिनी और सब दास-दासियों को एक साथ भोजन करने का आदेश दिया। कुछेक प्रचारकों के अतिरिक्त वे सब लोग उस प्रीतिभोज में एकत्रित

होकर आमोद प्रमोद द्वारा सहभोज का सुख उठाने लगे।

बड़ी रात्रि बीतने के पश्चात् वे सब ब्राह्म मुहूर्त में उठकर शौचादि से निवृत्त हुए। प्राची के क्षितिज में अरुणिमा रञ्जित ऊषा प्रकृति का नव शृंगार कर रही थी। विजयश्रवा क्षितिज में छिपे हुए भगवान भुवनभास्कर को अपना प्रेमार्घ्य प्रदान कर, युगल प्रेमिकाओं के साथ रथारूढ़ हुआ और अन्य रथों में दास दासियाँ बैठीं। रथ के घोड़े धारा नगरी की ओर जाने वाले राजपथ पर खड़े हो गये। सबने मिलकर एक बार भावी सम्राट के नाम से जयघोष उच्चारित किया और वे सब मातृ-भूमि को प्रयाण कर गये।